82
मई-दिसंबर, 2019

पुस्तक-वार्ता

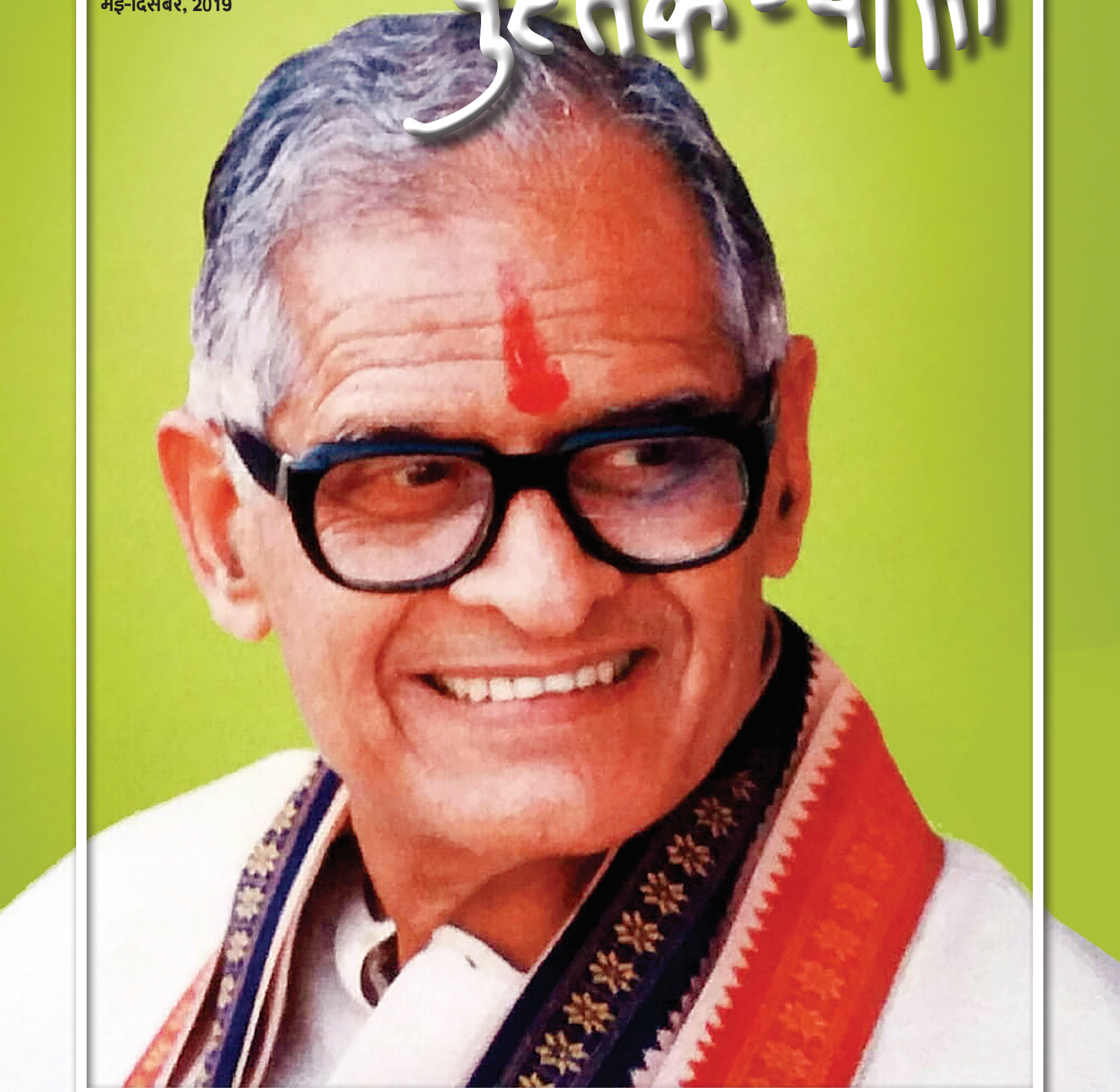

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

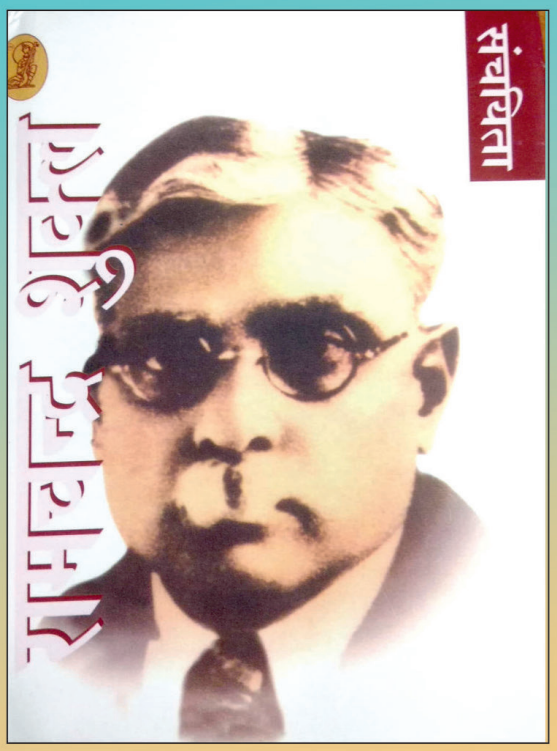

मूल्य : 695

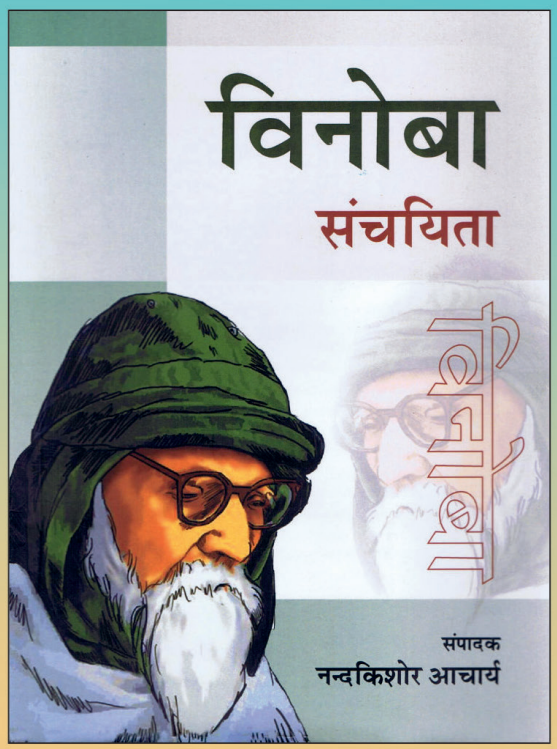

मूल्य : 900

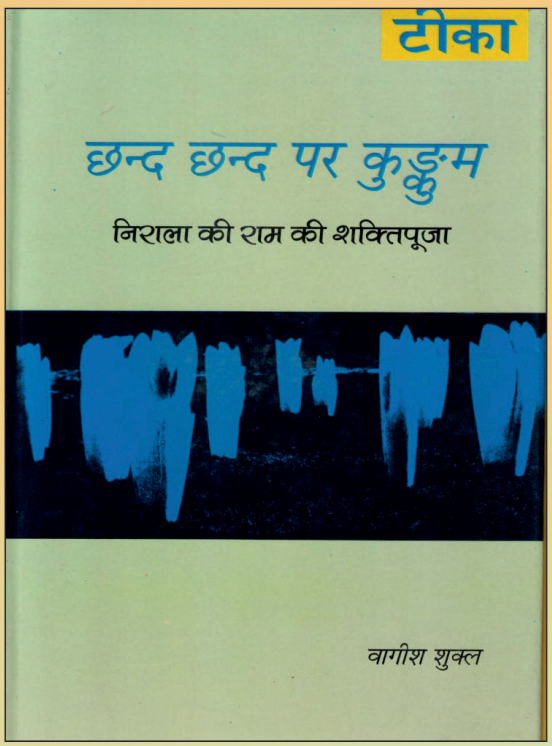

मूल्य : 900

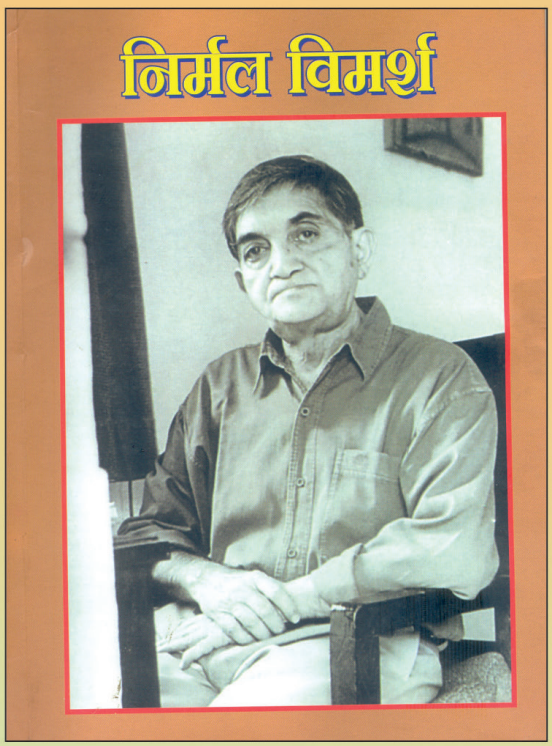

मूल्य : 900

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा –442 001 (महाराष्ट्र)

पुस्तक-वार्ता

ISSN 2349-1809

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

अंक: 82 मई-दिसंबर, 2019

संरक्षक

रजनीश कुमार शुक्ल

कुलपति

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित कुमार विश्वास

प्रकाशक

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)

www.hindivishwa.org

संपादकीय संपर्क

संपादक : पुस्तक-वार्ता

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)

फोन : 07152-232943

E-mail : pustakvaarta.mgahv@gmail.com

समस्त पत्राचार प्रकाशन प्रभारी के नाम से इस पते पर किया जाए-

प्रकाशन प्रभारी

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)

फोन : 07152-232943

E-mail : pub.mgahv@gmail.com

प्रति अंक : रु. 50/-

सदस्यता राशि मूल्य रु. 50/- के गुणक में। सदस्यता राशि केवल ऑनलाइन निम्नलिखित बैंक खाते में जमा करवा सकते हैं -

Account Holder's Name	: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name	: Bank of India, Wardha
Branch	: Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Account No.	: 972110210000005
IFSC Code No.	: BKID 0009721
MICR Code No.	: 442013003

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से विश्वविद्यालय या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विवाद की स्थिति में न्याय क्षेत्र, वर्धा (महाराष्ट्र) होगा।

मुद्रण : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर ए-5/ट्रोनिका सिटी, यू.पी. एस.आई.डी.सी. औद्योगिक क्षेत्र, लोनी, जिला-गाजियाबाद-201002 (उत्तर प्रदेश)

फोन : 0120-2696090

डिजाइन : ज्योत्स्ना पलसुलेदेसाई

इस बार

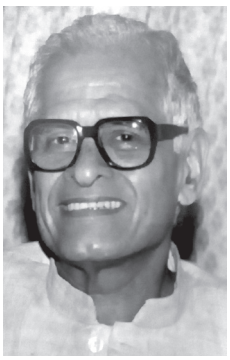

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री

अप्रतिम सारस्वत व्यक्तित्व

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री का रचनात्मक अवदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं पर साधिकार लेखन करते हुए आलोचना, निबंध, काव्य, संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज आदि विधाओं को तो समृद्ध किया ही; अपने आध्यात्मिक प्रवचनों/व्याख्यानों द्वारा ईशावास्योपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता की अनुपम व्याख्या की। शास्त्रीजी द्वारा रचित मौलिक, अनूदित एवं संपादित ग्रंथों की संख्या 30 है।

काव्य का वाचिक संप्रेषण 02

सूचना प्रौद्योगिकी का व्यापक संजाल /दामोदर खड़से 05

नए वितान में मिथकीय चरित्र शिलावहा / उमेश चतुर्वेदी 06

कथा में प्रेम की अविरल धारा / राकेश मिश्र 08

लालन शाह फकीर के गीत / प्रयाग शुक्ल 10

मीरांकालीन समाज की पड़ताल / श्रीभगवान सिंह 13

प्यास का जायका पानी की तरह होता है / विनोद तिवारी 17

डायरी में समाया जीवन प्रसंगों का लेखा / कुबेर कुमावत 20

दस्तावेज है थेरीगाथा! / सुधांशु गुप्त 24

स्वामीजी के चुंबकीय व्यक्तित्व से आमना-सामना कराती पुस्तक / अनुपमा गुप्ता 27

कविता में मूलवासियों के गहरे सरोकार / प्रांजल धर 30

सात कदम : नया अनुभव संसार रचती कहानियां / अखिलेश कुमार दुबे 33

अध्यात्म चिंतन से लेकर ठेठ शृंगार तक काल-गति / श्रीराम परिहार 35

सागर-मंथन से अमृत भी निकलता है और विष भी / गंगा शरण सिंह 38

संस्कृति और प्रकृति गाथा सुनाती यात्राएं / ज्ञानेश उपाध्याय 41

विलक्षण अनुभव की कहानियां / स्वप्निल श्रीवास्तव 43

सामासिक भारतीय समाज और उसकी भाषाएं / किशोर वासवानी 47

'बड़ी' नहीं, जरूरी कविताएं / रामकुमार कृषक 50

सकारात्मकता के कथाकार / नवनीत मिश्र 52

आपातकाल की व्यथा कहती कहानियां / संजय सिंह बघेल 54

एक पालतू के बोहेमियन किस्से के बहाने गुरु-गाथा / गीताश्री 56

जीवन के रंगों का कोलाज / यशस्विनी पांडेय 60

काव्य का वाचिक संप्रेषण

पुस्तक-वार्ता का यह अंक हिंदी के प्रख्यात आलोचक और भारतीय चिंतन परंपरा के मनीषी विष्णुकांत शास्त्री की स्मृति को समर्पित है। इस अवसर पर उनके द्वारा लिखित काव्य का वाचिक संप्रेषण शीर्षक आलोचनात्मक लेख का संपादित अंश संपादकीय टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत है।

कवियों की यह महत्वाकांक्षा रही है कि उनकी कविता 'बुध विश्राम सकल जन रंजनि' हो, एक ओर अपनी लोकप्रियता के कारण उड़ी-उड़ी फिरे, दूसरी ओर पंडितों और प्रवीणों का चित्तहरण कर सके। ऐसा होने की संभावना स्पष्टतः तभी अधिक होगी जब कवि का वह पूरा रसात्मक या सौंदर्यात्मक अनुभव जो अपने अनुरूप शब्दों, बिंबों, प्रतीकों आदि के माध्यम से कविता में अभिव्यक्त हुआ है, ग्रहीता द्वारा हृदयंगम किया जा सके अर्थात् कविता सही अर्थों में संप्रेषित हो। यह ठीक है कि संप्रेषण केवल कवि पर निर्भर नहीं है, ग्रहीता में भी उसके लिए यथोचित पात्रता अपेक्षित है किंतु यह भी सच है कि यदि कवि संप्रेषण के अपने दायित्व के प्रति सचेत हो तो उसकी संभावना बढ़ जाती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि संप्रेष्य केवल कविता का अर्थ नहीं होता, वह लय-विधान... वह नादात्मकता भी संप्रेष्य है जिससे कविता का अर्थ... उसका कथ्य प्राणवंत होता है। सभी इसे मानते हैं कि कवि अपने युक्तिसंगत वक्तव्य के साथ मनोवेगों को भी मिश्रित कर देते हैं। इन्हीं मनोवेगों को संकेतित करने के लिए कविगण उनके अनुरूप लयों का संयोजन करते हैं। शब्दों के चुनाव में भी यह वृत्ति काम करती है। शब्द के दो प्रमुख गुण हैं-अर्थ और नाद। समार्थक या प्रायः मिलते-जुलते शब्दों के अंगभूत अक्षरों का नादात्मक प्रभाव अलग-अलग होता है। अंतः सचेत कवि उन्हीं शब्दों को चुनते हैं जिनसे उनके मनोवेग को परिस्फुट करने में नादात्मक सहयोग प्राप्त है। माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों के उत्कर्ष के लिए अनुरूप नादों वाले शब्दों का प्रयोग करने का विधान भारतीय काव्यशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से किया है। छंदों या नियमित लय-विधानों को रस और वर्णनीय विषयों के अनुरूप होना चाहिए, यह सतर्कता बरतने की सलाह भी आचार्यों द्वारा कवियों को दी जाती रही है। जिसे पश्चिमी विद्वानों ने काव्य की संगीतात्मकता कहा है, वह उसका नाद-सौंदर्य ही है। अब यदि काव्य को पूर्णतः संप्रेषित करना अभीष्ट हो तो उसके नाद-सौंदर्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। नाद-सौंदर्य की सम्यक उपलब्धि सुनकर ही की जा सकती है, मौन वाचन के द्वारा नहीं। अर्थग्रहण की संभावना काव्य के सुष्ठु पाठ के सम्यक श्रवण के द्वारा बढ़ जाती है, यही परीक्षित सत्य है। संभवतः इसीलिए प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कविता को श्रव्य काव्य कहा था और नाटक को दृश्य काव्य की संज्ञा देकर भी उसके अभिनय के वाचिक पक्ष को नाटक का शरीर घोषित करते हुए उसे विशेष प्रयत्नपूर्वक अभिनीत करने का परामर्श दिया था।

इस दृष्टि से विचार करने पर काव्य-क्षेत्र की सांप्रतिक स्थिति उद्वेगजनक प्रतीत होती है। पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं में मुद्रित कविताओं का मौन वाचन ही आज उनकी मुख्य नियति है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप कविताओं का अर्थगांभीर्य भले विकसित हुआ हो, उनका नाद-सौंदर्य संकुचित हुआ है, उनकी संप्रेषण-क्षमता में भी कमी आयी है।

संस्कृत के आचार्यों में समुचित काव्यपाठ को जैसा महत्व राजशेखर ने दिया है, वैसा और किसी ने नहीं दिया। उन्होंने द्रविड़ देश के कवियों की मीठी चुटकी इसीलिए ली है कि काव्य-मर्मज्ञ होते हुए भी वे गद्य हो या पद्य अथवा मिश्रित काव्य-सभी को गाकर पढ़ते हैं:

गद्यं पद्यंअथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि।
गेयगभं स्थितः पाठे सर्वोअपि द्रविडः कवि।।

चूंकि अधिकांश नए कवि मुक्त छंद में कविता लिखते हैं, अतः उनकी काव्य-पंक्तियों में अंतर्निहित लय को पकड़ना और कठिन हो गया है। गद्य-कविता के नाम पर लय वर्जित मुक्त छंद ने इस दिशा में और जटिलता उत्पन्न की है। सच तो यह है कि पाठ-संस्कार के क्षीण हो जाने के कारण मुक्त छंद में लिखित बहुतेरी कविताएं अनगढ़ गद्य जैसी लगती हैं। निराला ने मुक्त छंद का प्रवर्तन करते समय यह विश्वास व्यक्त किया था कि इस छंद में 'आर्ट ऑफ रीडिंग' (पाठकला) का आनंद मिलता है। उनकी बात की सत्यता मुक्त छंद में लिखित उनकी कविताएं प्रमाणित करती हैं।

क्या यही बात आज की अधिकांश हिंदी कविता के लिए कही जा सकती है? शायद नहीं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि समकालीन कविता को न तो कवि-सम्मेलनों का मंच सुलभ है, न समानधमाओं की काव्यगोष्ठियों का... क्योंकि कवि-सम्मेलनों में वह पिट जाती है और गंभीर काव्य-गोष्ठियों की परंपरा का समुचित विकास ही नहीं हो पाया है। फलतः आज की कविता एकांत में मौन वाचन के द्वारा पढ़ी जाने वाली काव्य-विधा के रूप में विकसित हो रही है। इससे न केवल उसका सामाजिक संपर्क कम होता जा रहा है, उसकी लयवत्ता और श्रुति सुखदता का भी ह्रास हो रहा हैं। इस शोचनीय स्थिति को रेखांकित करते हुए अज्ञेय ने परितापपूर्वक लिखा है, 'श्रुति का जो संस्कार काव्य के लिए आवश्यक होना चाहिए, उसके प्रति नयी कविता में जरूरत से कुछ ज्यादा अपेक्षा हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि आज के कवियों को भी स्वयं अपनी कविता भी पढ़ना नहीं आता। उन्हें मालूम ही नहीं है कि यह कविता कैसे पढ़नी चाहिए जिससे उसका सही अर्थ सामने आये। यह संस्कार लगभग खो गया है। शायद इसको फिर प्राप्त करना होगा।'

खेद इस बात का इसलिए और अधिक है कि यह दुर्घटना उस देश में घट रही है जिसमें कभी राजशेखर ने डंके की चोट पर कहा था कि संस्कारशील व्यक्ति जैसे-तैसे काव्य रच ही लेते हैं किंतु उसे पढ़ना तो वही जानता है, जिसे सरस्वती सिद्ध हो। अद्भुत है यह श्लोक -

'करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथातथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती।।'

यह समझ रखना चाहिए कि काव्य-पाठ की प्रक्रिया सीधे रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करती है। यदि कवि किसी गोष्ठी में कविता पढ़ने को भी कविता की एक कसौटी के रूप में स्वीकार करेगा तो वह संप्रेषण से सीधे जुड़ेगा, सामने उपस्थित श्रोताओं की कविता का मर्म समझ में आये, यह उसकी चिंता होगी, उनकी प्रतिक्रियाएं उसे भावी कविताओं की रचना के समय प्रभावित करेंगी, पाठ को प्रभावशाली बनाने के लिए लय के प्रति, शब्दों के नाद-सौंदर्य के प्रति भी वह सचेत रहेगा, वह स्वयं अपनी कविता को बार-बार पढ़ेगा, स्वयं उसे सुनेगा और उसके अनगढ़पन को बर्दाश्त नहीं करेगा। अनुपस्थित पाठक वर्ग के लिए लिखी गई कविता में इनमें से कई बातों पर आज के कवि पर्याप्त ध्यान नहीं दे रहे हैं, यह किसी भी समझदार काव्यप्रेमी को अनायास दिख सकता है। अतः काव्य के वाचिक संप्रेषण पर बल देना आज की कविता के लिए एक सीमा तक दोष-निवारक उपाय सिद्ध हो सकता है। ■

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री

अप्रतिम सारस्वत व्यक्तित्व

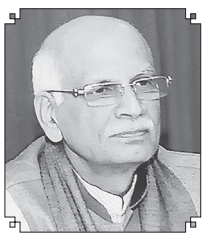

प्रेम शंकर त्रिपाठी

लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान, छात्रवत्सल प्राध्यापक, विशिष्ट शिक्षाविद्, मूर्द्धन्य समालोचक, सहृदय कवि, भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म के अनुपम व्याख्याता, सम्मोहक वक्ता, निष्कलंक राजनेता, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रबल पक्षधर, सहजता एवं शालीनता की साक्षात् मूर्ति, अनन्य रामभक्त आचार्य विष्णुकांत शास्त्री ने अपनी बहुआयामी जीवन-यात्रा में विविध क्षेत्रों को समृद्ध किया।

2 मई 1929 को कोलकाता में जन्मे विष्णुकांत शास्त्री के पूर्वज जम्मू के मूल निवासी थे। उनके पिता पंडित गांगेय नरोत्तम शास्त्री काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। असहयोग आंदोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने अध्यापन छोड़ दिया तथा काशी के युवा-वर्ग को स्वाधीनता संग्राम में सम्मिलित होने के लिए संगठित-प्रेरित किया। डॉ. भगवानदास ने अपने नवगठित शिक्षण संस्थान 'काशी विद्यापीठ' में उन्हें संस्कृत-हिंदी का प्राध्यापक नियुक्त किया। गर्मदल में काम करने के कारण अंग्रेज सरकार ने उन्हें बनारस छोड़ने का आदेश दिया और गांगेयजी काशी विद्यापीठ में डेढ़ वर्ष कार्य करने के बाद कलकत्ता चले आए, जहां विनायक मिश्र के समृद्ध घराने में श्रीमती रूपेश्वरी देवी के साथ दांपत्य सूत्र बंधन में आबद्ध हुए। पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री एवं श्रीमती रूपेश्वरी देवी के द्वितीय पुत्र विष्णुकांत शास्त्री की शिक्षा-दीक्षा कलकत्ता में संपन्न हुई।

विष्णुकांत जी ने 1953 ई. में, कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी) की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उन्होंने विधि स्नातक (एल.एल.बी.) की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। नवंबर 1953 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में वे प्राध्यापक नियुक्त हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक, रीडर, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष तथा अन्य अकादमिक दायित्वों का पालन करते हुए शास्त्रीजी ने 41 वर्षों तक अध्यापन किया और मई 1994 में सेवानिवृत्त हुए।

अपनी विद्वत्ता एवं वाग्मिता के कारण सारे देश में उन्होंने कीर्ति अर्जित की। साहित्यिक समारोह हो या अकादमिक संगोष्ठी - अपने अध्ययन, विश्लेषण एवं गंभीर चिंतन से उन्होंने सबको प्रभावित किया। अध्यापन के प्रति अपार निष्ठा, छात्रवत्सलता तथा विषय मर्मज्ञता के कारण वे 'आकाशधर्मी' गुरु के रूप में समादृत थे। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में जिस 'धुरि प्रतिष्ठा के अधिकारी' शिक्षक की परिकल्पना की है- उसका उदाहरण थे शास्त्रीजी।

अपनी विद्वत्ता एवं वाग्मिता के कारण सारे देश में उन्होंने कीर्ति अर्जित की। साहित्यिक समारोह हो या अकादमिक संगोष्ठी - अपने अध्ययन, विश्लेषण एवं गंभीर चिंतन से उन्होंने सबको प्रभावित किया।

अध्यापन के प्रति अपार निष्ठा, छात्रवत्सलता तथा विषय मर्मज्ञता के कारण वे 'आकाशधर्मी' गुरु के रूप में समादृत थे। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में जिस 'धुरि प्रतिष्ठा के अधिकारी' शिक्षक की परिकल्पना की है- उसका उदाहरण थे शास्त्रीजी।

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री का रचनात्मक अवदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं पर साधिकार लेखन करते हुए आलोचना, निबंध, काव्य, संस्मरण, यात्रावृत्त,

रिपोर्ताज आदि विधाओं को तो समृद्ध किया ही; अपने आध्यात्मिक प्रवचनों/व्याख्यानों द्वारा ईशावास्योपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता की अनुपम व्याख्या की। शास्त्रीजी द्वारा रचित मौलिक, अनूदित एवं संपादित ग्रंथों की संख्या 30 है।

आलोचक के रूप में विष्णुकांतजी का अवदान रेखांकित करने योग्य है। उनकी समीक्षापरक विवेचनमूलक मौलिक कृतियां हैं; 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध', 'चिंतन मुद्रा', 'कुछ चंदन की कुछ कपूर की', 'अनुचिंतन', 'तुलसी के हिय हेरि', 'आधुनिक हिंदी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष', 'भक्ति और शरणागति'। इन कृतियों के आलेख आलोचक विष्णुकांत शास्त्री की तलस्पर्शिता प्रमाणित करते हैं। उनके लेखन में शोधकार्य जैसी तैयारी और तन्मयता परिलक्षित होती है।

बांग्लादेश स्वाधीनता-संग्राम के दौरान विष्णुकांतजी ने 'धर्मयुग' साप्ताहिक में जो रिपोर्ताज प्रस्तुत किए थे, उनके कारण उन्हें लेखक के रूप में अखिल भारतीय कीर्ति प्राप्त हुई थी। 1973 ई. में ये रिपोर्ताज 'बांग्लादेश के संदर्भ में' शीर्षक कृति के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। उसी वर्ष बांग्लादेश की संग्रामी कविताओं का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ 'संकल्प, संत्रास, संकल्प' नाम से।

शास्त्रीजी का महत्वपूर्ण रचनात्मक अवदान है संस्मरण-विधा को समृद्ध करने वाली चार कृतियों का सृजन- 'स्मरण को पाथेय बनने दो'; 'सुधियां उस चंदन के वन की'; 'अनंत पथ के यात्री; धर्मवीर भारती' तथा '... पर साथ-साथ चल रही याद'। प्रथम दो कृतियों में कुछ अविस्मरणीय यात्रा-वृत्त भी समाहित हैं। हिंदी के विशिष्ट रचनाकारों, आत्मीय जनों तथा विद्वानों पर केंद्रित ये संस्मरण केवल प्रीतिकर स्मृतियों का प्रस्तुतिकरण ही नहीं करते, रचनाकार शास्त्रीजी की भाषा-शैली की प्रभविष्णुता को भी रेखांकित करते हैं।

ईशावास्योपनिषद् एवं गीता पर दिए गए उनके प्रवचनों की श्रृंखला ने उन्हें धर्म दर्शन एवं संस्कृति के गहन अध्येता की प्रसिद्धि प्रदान की। ईशोपनिषद् पर केंद्रित प्रवचन 'ज्ञान और कर्म' पुस्तक में संकलित-प्रकाशित हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर आधारित प्रवचन 'गीता-परिक्रमा' के नाम से 3 खंडों में प्रकाशित हुए हैं। विष्णुकांतजी ने 1977 से 1983 तक आध्यात्मिक मासिक पत्र 'रस वृंदावन' का संपादन भी किया। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में दिए गए व्याख्यानों का संकलन 'बिना-प्रवाह' शीर्षक कृति में किया गया है।

साहित्यिक समारोहों या संगोष्ठियों में ही नहीं जन सामान्य के बीच भी, अपने प्रभावी उद्बोधन से शास्त्रीजी 'आम से लेकर खास' सभी वर्ग के लोगों को विमुग्ध करने में सक्षम थे। 'बुध विश्राम सकल जन रंजनि' थी उनकी वाणी।

कविता को प्रीतिकर जीवन ऊर्जा मानने वाले शास्त्रीजी को संस्कृत, हिंदी उर्दू, बांग्ला की असंख्य पंक्तियां-कविताएं कंठस्थ थीं। व्याख्यान के बीच सटीक पंक्तियों को उद्धृत कर अपने कथ्य को प्रभावशाली बनाने का अद्भुत कौशल उनके पास था। वे स्वयं कवि तो थे, लेकिन 'कवि यश प्रार्थी' नहीं थे। यही कारण है कि उनका कवि रूप दबा-छिपा रहा।

कविता को प्रीतिकर जीवन ऊर्जा मानने वाले शास्त्रीजी को संस्कृत, हिंदी उर्दू, बांग्ला की असंख्य पंक्तियां-कविताएं कंठस्थ थीं। व्याख्यान के बीच सटीक पंक्तियों को उद्धृत कर अपने कथ्य को प्रभावशाली बनाने का अद्भुत कौशल उनके पास था। वे स्वयं कवि तो थे, लेकिन 'कवि यश प्रार्थी' नहीं थे। यही कारण है कि उनका कवि रूप दबा-छिपा रहा। इन पंक्तियों के लेखक के हठाग्रह को स्वीकार कर उन्होंने 1999 में अपनी एकमात्र काव्य कृति के प्रकाशन की अनुमति प्रदान की। 'जीवन पथ पर चलते-चलते' नाम से वह कृति प्रकाशित-प्रशंसित हुई।

शास्त्रीजी ने यों तो बांग्ला, अंग्रेजी, संस्कृत भाषा की कई रचनाओं का हिंदी काव्यानुवाद किया है परंतु पुस्तकाकार तीन कृतियां प्रकाशित हैं -

1. उपमा कालिदास (बांग्ला के प्रख्यात विद्वान डॉ. शशिभूषण दासगुप्त की कृति 'उपमा कालिदासस्य' का हिंदी अनुवाद)

2. संकल्प संत्रास संकल्प (बांग्लादेश मुक्ति संग्राम से संबद्ध 56 कविताओं का हिंदी अनुवाद)

3. महात्मा गांधी का समाज दर्शन (डॉ. महादेव प्रसाद की कृति 'सोशल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी' का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद)

विष्णुकांतजी द्वारा संपादित कृतियों में प्रमुख हैंः 'दर्शक और आज का हिंदी रंगमंच'; 'बालमुकुंद गुप्तः एक मूल्यांकन'; 'तुलसीदासः आधुनिक संदर्भ में'; 'बांग्लादेशः संस्कृति और साहित्य'; 'कलकत्ता 1986'; 'कलकत्ता 1993'; 'अमर आग है' (कवि - राजनेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी की कविताओं का संग्रह)।

वर्ष 2003 ई. में आचार्य शास्त्री के 75 वें जन्म दिवस पर 'विष्णुकांत शास्त्रीः चुनी हुई रचनाएं' (दो खंडों में) कृति प्रकाशित हुई, जिसमें शास्त्रीय की रचनाधर्मिता के विविध आयामों का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएं संकलित हैं।

वर्ष 2004 ई. में 'आचार्य विष्णुकांत शास्त्री अमृत महोत्सव अभिनंदन ग्रंथ' प्रकाशित हुआ जिसमें उनके व्यक्तित्व-कृतित्व-कर्तृत्व के विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

प्रो. विष्णुकांत शास्त्री का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे प्राध्यापक-लेखक तो थे ही; विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं से भी सक्रिय रूप से संबद्ध थे। जीवन के विविध कालखंडों में उन्होंने कलकत्ता महानगर की विशिष्ट संस्थाओं के दायित्वपूर्ण पदों पर कार्य कर उन्हें नवीन ऊर्जा दी। बंगीय हिंदी परिषद्, श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, अनामिका बड़ाबाजार लाइब्रेरी, भारतीय भाषा परिषद, श्यामा प्रसाद मुखर्जी स्मारक समिति इन संस्थाओं में प्रमुख हैं। वे भारत-भवन भोपाल के न्यासी भी रहे।

1944 ई. में. विष्णुकांतजी स्वयंसेवक के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े। 1975 ई. में देश में लगे आपातकाल का उन्होंने लेखन और व्याख्यानों के द्वारा मुखर विरोध किया। वे 1977 ई. में. जनता पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में कलकत्ता महानगर की जोरासांको विधानसभा सीट से विधायक (1977-82) निर्वाचित हुए। 1980 में नवगठित भारतीय जनता पार्टी के स्थापना काल से उससे संबद्ध रहे तथा पश्चिम बंगाल प्रदेश भाजपा के दो बार अध्यक्ष चुने गए। 1988-93 तक वे भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष भी रहे। 1992 से 1998 तक विष्णुकांतजी राज्यसभा के सदस्य निर्वाचित होकर सांसद भी रहे।

केंद्र की अटल बिहारी वाजपेयी सरकार ने 2 दिसंबर 1999 को उन्हें हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया। 23 नवंबर 2000 तक इस गुरुवर दायित्व का उन्होंने पालन किया। 24 नवंबर 2000 से 2 जुलाई 2004 तक उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने अपार लोकप्रियता अर्जित की। शास्त्रीजी ने कुछ दिनों तक पंजाब के राज्यपाल एवं चंडीगढ़ के प्रशासक अतिरिक्त कार्यभार भी संभाला।

विष्णुकांतजी ने सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिदाद, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, प. जर्मनी, इटली, बांग्लादेश आदि देशों की यात्राएं भी कीं।

समय-समय पर उन्हें कई सम्मानों एवं पुरस्कारों से अलंकृत किया गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सम्मान, साहित्य भूषण सम्मान, डॉ. राम मनोहर लोहिया सम्मान, राजर्षि टंडन हिंदी सेवी सम्मान इनमें प्रमुख हैं। कानपुर विश्वविद्यालय तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें मानद डी.लिट्. को उपाधि से समादृत किया गया।

सूचना प्रौद्योगिकी का व्यापक संजाल

दामोदर खड़से

कथाकार-अनुवादक

संपर्क :
बी. 503-504 हाई ब्लिस,
कैलाश जीवन के पास
धायरी, पुणे-411041
मो. 9850088496

पुस्तकः सूचना प्रौद्योगिकी, सोशल मीडिया और डिजिटल इंडिया
लेखकः डॉ. अमरीश सिन्हा
प्रकाशकः आर.के. पब्लिकेशन, मुंबई
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठः 240
मूल्यः ₹ 450

सूचना प्रौद्योगिकी वर्तमान विश्व को अपने संजाल में समेट चुकी है। शायद ही कोई क्षेत्र बचा हो जहां कंप्यूटर ने, नेट ने, वाई-फाई, डिजिटल ने प्रवेश न किया हो। घर-परिवार, देश-समाज, दिन-दुनिया में सूचना प्रौद्योगिकी की व्यक्ति उसकी उपयोगिता की गवाह है। आज इससे न जुड़ा, हुआ व्यक्ति नए जमाने का अनपढ़ घोषित हो सकता है। जाहिर है, इतने महत्वपूर्ण चमत्कार को भाषा की सीमाओं में बहुत समय तक बांधना संभव नहीं था। अंग्रेजी में अन्वेषित यह प्रौद्योगिकी हिंदी और भारतीय भाषाओं तक व्याप्त हो गई और इस पर अंग्रेजी का एकाधिकार समाप्त-सा हो गया। लगभग तीन दशक पहले जब सरकारी कार्यालयों में सूचना प्रौद्योगिकी का आगमन कंप्यूटर के रूप में हुआ, तब वह किसी चमत्कार से कम नहीं लग रहा था और इसे चलाने वाले जादूगर की तरह लगते थे। फिर ऐसे कमरों के 'बाहर तख्ती लगा दी जाती 'जूते यहां उतारिए'... ताकि कमरे में सांस ले रहे कंप्यूटर को धूल और दूसरे व्यावधानों से बचाया जा सके। कुछ ही दिनों-महीनों बाद कंप्यूटर जूतों की दुकानों के बीच बिठा दिया... यह उसके अस्तित्व और उपयोगिता की यात्रा थी। आज तो शायद ही कोई क्षेत्र बचा हो जहां सूचना प्रौद्योगिकी की गैरहाजिरी लग रही हो। अब यह आवश्यक ही है कि सूचना प्रौद्योगिकी-विषय को जनसामान्य तक पहुंचाने के लिए उसे हिंदी में भी अभिव्यक्त किया जाए। सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में काम कर रहे अधिकारियों-कर्मचारियों की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए डॉ. अमरीश सिन्हा ने 'सूचना प्रौद्योगिकी, सोशल मीडिया और डिजिटल इंडिया' नामक ग्रंथ रचकर इस कंप्यूटर और नेट की दुनिया का परिचय हिंदी में व्यक्त कर देश के व्यापक जन समुदाय तक इसे पहुंचाने का सार्थक प्रयास किया है।

डॉ. अमरीश सिन्हा सुपरिचित लेखक हैं, जिन्होंने साहित्य, पत्रकारिता तकनीकी-लेखक, कार्यालयीन लेखन में अपना भरपूर योगदान दिया है। अज्ञेय के योगदान के अछूते पहलुओं को उन्होंने अपनी कृति में उजागर किया है। 'प्रेरणा' के संपादक के रूप में उनकी पत्रकारिता और संपादन-कला परिलक्षित होती है। 'बोगदे से बाहर' उनकी एक और विशिष्ट कृति है। राजभाषा को व्यापकता देने में, कार्यालयीन दुनिया में उनका योगदान विशिष्ट स्थान रखता है। फिर वह 'बीमा सुरक्षा और सामाजिक सरोकार' हो या 'भारत में ग्रामीण बीमा' हो; उनका प्रयास यह होता है कि तकनीकी विषय जन-सामान्य तक उनकी भाषा में पहुंचाए जाएं। अब उनकी पुस्तक 'सूचना प्रौद्योगिकी, सोशल मीडिया और डिजिटल इंडिया' कंप्यूटर, नेट, सोशल मीडिया जैसे सम-सामयिक विषयों की व्यापक चर्चा के साथ प्रकाशित हुई है। उनका मानना है कि 'मनुष्य स्वभाव से ही खोजी, नवोन्मेषी और संघर्षशील रहा है इसलिए वह विकास के नए आयाम गढ़ता गया। इन्हीं आयामों में से एक है सूचना प्रोद्योगिकी जिसने हमारे जीवन को सर्वाधिक तीव्रता से प्रभावित और परिवर्तित किया है। बुनियादी रूप में तो यही है कि हमारी सारी आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति सूचना के एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने पर निर्भर है। सूचना के विभिन्न तकनीक विकसित होते गए। सूचना प्रौद्योगिकी का सबसे सहज और सशक्त माध्यम कंप्यूटर है।'

सूचना प्रौद्योगिकी, 'सोशल मीडिया और डिजिटल इंडिया' ग्रंथ में डॉ. सिन्हा ने सूचना प्रौद्योगिकी का अर्थ, उद्देश्य और स्वरूप का सार्थक विश्लेषण करने के साथ कंप्यूटर का सामान्य परिचय, प्रयोग और उसके प्रकार की विस्तार से चर्चा की है। इससे कंप्यूटर के प्रारंभिक उपयोगकर्ता के लिए बहुत सटीक जानकारी और मार्गदर्शन उपलब्ध कराया गया है।'यूनिकोड' और देवनागरी के उपयोग और उसकी सार्थकता को भी बहुत गहराई से विश्लेषित किया गया है। कंप्यूटर को हिंदी के लिए उपयोग करने वालों के लिए लेखक ने सिलसिलेवार रूप से उपयोगी जानकारी रेखांकित की है।

सोशल मीडिया आज अत्यंत प्रभावी और जन-संचार का एक महत्वपूर्ण शस्त्र के रूप में विकसित हो गया है। बाजार राजनीति, समाचार आदि को अधिकाधिक लोगों तक पहुंचाने का, यह एक सशक्त माध्यम के रूप में अपनी विशिष्ट अहमियत रखता है। इसके अंतर्गत लेखक ने तमाम तकनीकी पक्षों की चर्चा करते हुए यूट्यूब, विकीपीडिया, फेसबुक, ब्लॉग, ट्वीटर, वाट्सएप आदि का ब्यौरेवार जिक्र किया गया है। भारतीय परिवेश, संस्कृति और उपयोगिता पर उनकी मौलिक टिप्पणियां आज की पीढ़ी को इसके सभी आयामों, गुण-दोषों और पहलुओं को सामने रखते हैं। इसमें जहाँ गतिशीलता को अधोरेखित किया गया है, वहीं इसके नकारात्मक पक्ष को भी स्पष्ट किया गया है।

कंप्यूटर जहां सुविधा, गतिशीलता, तीव्र-संप्रेषण, असीमित सूचना-रखरखाव करता है, वहीं इसके प्रयोग को, लेखक ने कुछ सावधानियों के साथ अपनाने की सलाह भी दी है क्योंकि साइबर अपराध की घटनाएं निरंतर बढ़ रहे हैं। लेखक बीमा के क्षेत्र में भी विशिष्ट दखल रखते हैं। उन्होंने संपूर्ण देश का ध्यान में रखकर डिजिटलाइजेशन पर व्यापक प्रकाश डाला है। ग्रामीण क्षेत्र से महानगरों तक, सूचना प्रौद्योगिकी की व्यापकता की उन्होंने सूक्ष्म चर्चा की है। यह कृति हिंदी और तकनीकी जानकारियों को आपस में जोड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास है। हिंदी में अब तकनीकी विषय को मौलिक रूप से लाया जाना चाहिए। अनुवाद पर आश्रित न होकर विषय के ज्ञाता यदि मौलिक रूप से तकनीकी विषयों को व्यापक अभिव्यक्ति देते हैं तो हिंदी समृद्ध होती जाएगी। इस दृष्टि से डॉ. अमरीश सिन्हा का यह सफल प्रयास सराहनीय लगता है।

उपन्यास

नए वितान में मिथकीय चरित्र शिलावहा

उमेश चतुर्वेदी

पत्रकार

संपर्क :
द्वारा जयप्रकाश, दूसरा तल
निकट शिवमंदिर
एफ-23 ए, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-110016
मो. 9599661151

शिलावहा की अहल्या क्रांतिकारी तो है, लेकिन वह सदियों से चली आ रही मान्यताओं को धूसरित करती है। सदियों से जिन मान्यताओं और चरित्रों को जिन रूपों में व्यापक समाज देखता समझता रहा है, उसे यह उपन्यास खंडित करता है। बेशक किरण की अहल्या प्रेम के अर्थों को जी रही है, लेकिन वह प्रचलित मान्यताओं को पूरी तरह खारिज करती है। हालांकि इस उपन्यास में वह प्रेम में ठगी भी जाती है। चूंकि हिंदी समाज आज के दौर में रचनात्मक कृतियों के अवगाहन में ज्यादा डूबना पसंद नहीं करता, इसलिए यह उपन्यास अभी भी व्यापक समुदाय से अछूता है।

मिथकीय चरित्रों की भूमिका को लोक साहित्य में उसके स्थानीय सामाजिक और सांस्कृतिक दायरे और जरूरत के मुताबिक व्याख्या तो मिलती है, लेकिन उन्हें रचनाधर्मिता के नए खांचे और नए परिवेश में व्याख्या करने की रचनात्मक हिम्मत कम से कम हिंदी में अल्प ही दिखती रही है। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध का प्रिय प्रवास हो या फिर नरेश मेहता की शबरी या दिनकर की उर्वशी या फिर धर्मवीर भारती की कनुप्रिया...एक तरह से इन रचनाओं में इन मिथकीय पात्रों की भूमिका का पुनर्पाठ मिलता है। दिनकर की उर्वशी को जितनी पहचान मिली, एक हद तक देखें तो हरिऔध की राधा का भी यही हाल रहा। व्यापक परिप्रेक्ष्य में ये दोनों ही रचनाएं हिंदी संसार को प्रभावित करने में सफल रही हैं। हाल के दिनों में जिस तरह देवदत्त पटनायक और अमीश त्रिपाठी पौराणिक पात्रों को नए-नए रूपों में युगीन परिवेश और प्रसंगों के मुताबिक ढाल रहे हैं और जिस तरह उन्हें व्यापक पाठकीय सहयोग मिल रहा है, कम से कम हिंदी के पौराणिक चरित्रों को वह सफलता हाल के दिनों में नहीं दिखती। उड़िया की मशहूर लेखिका प्रतिभा रॉय ने द्रौपदी के चरित्र पर याज्ञसेनी नाम से जो उपन्यास लिखा है, उसे भी व्यापक सफलता मिली। हिंदी में वह उपन्यास द्रौपदी के नाम से आया और व्यापक रूप से समादृत हुआ। हिंदी के पाठकों को उसके अपने ही सांस्कृतिक और मिथकीय चरित्र आखिर बदले परिवेश की भूमिकाओं के पुनर्पाठ में आखिर प्रभावित क्यों नहीं कर पाते? इस सवाल से हिंदी की रचनाधर्मिता को जूझना होगा लेकिन इस सवाल का किंचित जवाब किरण सिंह के पौराणिक चरित्र अहल्या की भूमिका का पुनर्पाठ करता हुआ आया उपन्यास 'शिलावहा' को पढ़ने के बाद मिल सकता है।

रामायणकालीन स्त्री पात्र अहल्या की कथा जन-जन को पता है। लोगों को पता है कि अतीव सुंदरी अहल्या का विवाह गौतम ऋषि से हुआ। अहल्या इतनी सुंदर थी कि उस पर देवराज इंद्र ही मोहित हो गए और उन्होंने एक रात छल से गौतम ऋषि का रूप धारण कर अहल्या से सहवास किया। इसमें अहल्या का कोई दोष नहीं था। उसने तो अपना सर्वस्व अपने पति गौतम को सौंपा। बाद में जब गौतम को पता चला कि अहल्या के साथ इंद्र ने धोखे से सहवास किया है तो उनका कुपित होना स्वाभाविक था लेकिन इस क्रोध में वे अहल्या के निर्दोषपन को भूल गए और उसे पत्थर हो जाने का श्राप दे दिया। श्राप तो उन्होंने इंद्र को भी दिया कि उसके पूरे शरीर में योनि ही हो जाए। गौतम ऋषि का तर्क था कि हर स्त्री को अपने प्रिय का स्पर्श पता होता है। अहल्या इसे क्यों नहीं समझ पाई। इस कथा की कुछ व्याख्याओं में कहा जाता है कि चूंकि अहल्या छद्म रूप धारी इंद्र के स्पर्श को नहीं समझ पाई, इसका मतलब कि वह पत्थर हो गई थी और गुस्से में गौतम ने उसे पत्थर ही बन जाने का श्राप दे दिया। निश्चित तौर पर इस कथा में अहल्या बिना किसी अपराध के ही सजा भुगतती है। एक तरह से वह पीड़िता है। अगर वह पीड़िता नहीं होती तो त्रेता युग में राम उसका उद्धार नहीं करते और उसे फिर से पूजनीया स्त्री का रूप हासिल करने में मदद नहीं करते। इसी कथा को किरण सिंह ने अपने उपन्यास शिलावहा में नए रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इसे सुगमता से समझ पाना और कथानक के अभिप्रेय से संवाद स्थापित कर पाना आसान नहीं है। यह उपन्यास महज सत्तर पृष्ठों का है। इतनी छोटी रचना होने के बाद इसे सहज ग्राह्य होना चाहिए था, लेकिन यह ऐसा नहीं बन पाया है। इस वजह से इसे व्यापक पाठकों का भरपूर प्यार मिलना आसान नहीं है। कवि केशव को कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता था। शिलावहा को ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसमें शक नहीं है कि अपने कथ्य और अहल्या के चरित्र के पुनर्पाठ के बावजूद यह उपन्यास कठिन जरूर है। रोहिणी अग्रवाल इस मिथकीय चरित्र को नई चेतना को प्रति संस्कृति नाम देती हैं। इसके लिए वे तर्क भी देती हैं।

इस उपन्यास के साथ रोहिणी अग्रवाल की लिखी

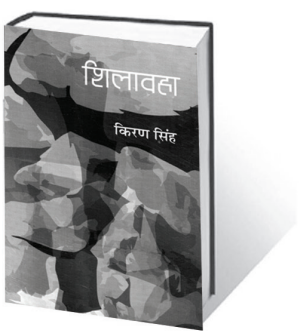

पुस्तक: शिलावहा
लेखक: किरण सिंह
प्रकाशक: आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)
प्रकाशन वर्ष: 2019
पृष्ठ: 120
मूल्य: ₹ 100

45 पेज की भूमिका पर भी सवाल उठ सकते हैं। उपन्यास की यह भूमिका शिलावहा की अहल्या के चरित्र को समझने का सूत्र तो मुहैया कराती है, लेकिन यह भी कई बार भारी नजर आती है। उपन्यास के भारीपन को छोड़ दें तो यह अपने कथ्य में बेहद क्रांतिकारी है। एक तरह से यह उपन्यास मौजूदा संदर्भ में जिस तरह का स्त्री विमर्श है, उसके निकष पर अहल्या के चरित्र को नए ढंग से प्रतिस्थापित करता है। मौजूदा दौर के स्त्री विमर्श में महिला को खुद की ताकत पर भरोसा करने और खुद को पहचानने पर जोर दिया जाता है। किरण सिंह की अहल्या भी कुछ इसी तरह की सोच वाली है। किरण सिंह की अहल्या नए रूप में है। किरण की अहल्या का चरित्र बिल्कुल अलग है। मिथकीय अहल्या के साथ इंद्र छल से सहवास करते हैं लेकिन किरण की अहल्या का इंद्र प्रेमी है और वह अपने प्रेमी के साथ सहमति से सहवास करती है। इन अर्थों में देखें तो यह उपन्यास स्त्री मुक्ति की मौजूदा क्रांतिकारी अवधारणा को पुष्ट करता है। जिसमें सात जन्मों के रिश्ते की बजाय मन के मिलन पर ज्यादा जोर है और पश्चिमी अवधारणा के मुताबिक शरीर के साथ पवित्रता की कोई अवधारणा ही नहीं होती। सहमति से उसका किसी से भी मिलन हो सकता है। किरण सिंह की शिलावहा की अहल्या भी कुछ ऐसी ही है। वह भरी सभा में अपनी संतानों तक को इंद्र की संतान घोषित कर देती है। वह गौतम ऋषि से कहती है - 'ब्रह्मर्षि गौतम! मैंने असत्य नहीं कहा। आपके नियम से यह शरीर मिथ्या है, अधम है। आत्मा सर्वोपरि है! मेरे नियम से मन सत्य है तो उस आत्मा और मन दोनों में इंद्र रहते हैं। मेरे जीवन में आप एक पल भी कहीं नहीं थे। एक रजस्वला से दूसरी रजस्वला तक! प्रत्येक रात्रि! मेरी बंद आंखों में आपके स्थान पर इंद्र रहते थे। तो ये मेरी और इंद्र की संतानें हुईं।'

मौजूदा साहित्यिक दौर की वैचारिकता के खांचे में यह उपन्यास कदम-दर-कदम क्रांतिकारी नजर आता है। किरण सिंह अहल्या के चरित्र को नवीन संभावनाओं के वितान पर लेकर जाती हैं। पौराणिक अहल्या भले ही तत्कालीन सामाजिक नियमों को मानने वाली हो, वह चुपचाप तत्कालीन कथित पुरुष वर्चस्ववादी समाज के बनाए नियमों को सहजता से स्वीकार करने वाली हो, लेकिन किरण सिंह की अहल्या धार्मिक और पुरुषवादी व्यवस्था को चुनौती देने वाली है। उसके चरित्र का चित्रण करते हुए किरण सिंह लिखती हैं, 'ताप में तनी रहने वाली बबूल की पत्तियां'- अर्थात् स्वाभिमान और दृढ संकल्प की शक्ति और 'रेत में खिलने वाला भटकटैया का पीला फूल जिसे छूने पर इकतारे सा बजता है।' वह आज की लड़कियों की तरह अपनी ही रौ में रहने वाली है। वह खुद ही कहती है, 'मुझे बहने को न मिले तो मर ही जाऊं।'

किरण सिंह की अहल्या तत्कालीन सत्ता और व्यवस्था तंत्र को चुनौती देती है, जिसे किरण के मुताबिक ब्रह्मदेव के निर्देशन में तैयार किया गया था।

किरण सिंह की अहल्या तत्कालीन सत्ता और व्यवस्था तंत्र को चुनौती देती है, जिसे किरण के मुताबिक ब्रह्मदेव के निर्देशन में तैयार किया गया था। भरी सभा में वह इंद्र के साथ अपने रिश्ते को जिस साहस से स्वीकार करती है, वह आज की स्त्री मानसिकता से ही मिलता-जुलता है जिसे ब्रह्मदेव स्वीकार नहीं कर पाते।

वह उससे पूछ बैठते हैं, 'अहल्या! तुम जन के समक्ष सोच समझकर राष्ट्र भावना और नए संविधान की हँसी उड़ा रही हो। तुम अच्छी तरह जानती हो कि स्त्री की यौन इच्छा पर कठोर नियंत्रण का नियम रक्त गोत्र की शुद्धता, संपत्ति का हस्तांतरण और सामाजिक अनुशासन के लिए बनाया गया है।'

अहल्या का जवाब निश्चित तौर पर आज के प्रगतिशील विचारकों को ताली बजाने का मौका देता है क्योंकि वह एक तरह से स्त्री विद्रोह का प्रतीक है। वह आज की यौन क्रांति और उसमें स्त्री की भूमिका को भी रेखांकित करता है। किरण सिंह की अहल्या कहती है, 'ब्रह्मदेव !... मेरा हथियार तो प्रेम है जिसे आप हथकंडा कहते-कहते स्वयं प्रेम से दूर हो गए। एक समय में कई-कई स्त्रियों को पालतू बनाकर जोतना चाहते हैं...पर प्रेम किसी से नहीं करते इसलिए एक को भी संतुष्ट नहीं कर सके। ऐसे में स्त्री की यौन इच्छाएं नहीं दबीं तो नपुंसक समाज ही स्त्री की यौनेच्छा से डरता है। देवताओं, यह बंधुआ और बधिया जीवन मुझे नहीं चाहिए।'

इस उपन्यास में आदि कवि वाल्मीकि रामायण के रचनाकार के रूप में नहीं आते, बल्कि वे स्त्री विमर्श को नए सिरे से गति देते नजर आते हैं। अपने रामायण में वह भले ही राम को मर्यादा पुरुषोत्तम बताते रहे हों, लेकिन किरण सिंह के उपन्यास में वाल्मीकि ऐसे रचनाकार के रूप में आते हैं, जिसमें वे सत्ता के विरोध की बात करते हैं। किरण के वाल्मीकि कहते हैं, 'मैं ईश्वर की सामान्य मानव से भी गई-बीती दुर्बलताएं लिखूंगा।'

इस उपन्यास में सामाजिक व्यवस्था को चुनौती भी दी गई है। इसमें बताया गया है कि स्त्रियों को दमित बनाए रखने के लिए ब्रह्मदेव के निर्देशन में व्यवस्था बनाई गई है। यह उपन्यास भारतीय शास्त्रों की अवधारणा 'यत्र नार्यस्तु पूजन्ते, रमन्ते तत्र देवता' को तार-तार करता नजर आता है। अपने उपन्यास में किरण अहल्या-गौतम के बीच हुए संवाद के माध्यम से स्त्री की यौनिकता को जहां नई परिभाषा देता है, वहीं पुरुषवादी मानसिकता को भी उद्घाटित करता है। कुछ संवादों को देखना होगा,

अहल्या कहती है, 'स्त्री की ओर चरित्रहीनता का चक्र फेंको और घर बैठे मजा लो।' क्रुद्ध गौतम 'योनि के लिए तुम इतनी प्रताड़ित की जाओ कि तुम्हें अपनी योनि से वितृष्णा हो जाए... खुल कर प्रेम न कर सको, पत्थर बनो।'जब अहल्या को पाषाण होने का श्राप मिलता है तो वह पूछती है कि पत्थर रूप में आखिर वह किसका सहयोग लेगी, वह किससे मिलेगी तो उसे जवाब मिलता है कि वह खुद को देखे।

शिलावहा का अर्थ होता है, शिला को बहा ले जाने वाली। किरण सिंह अहल्या को अपने उपन्यास में समाज की रूढ़ि रूपी शिलाओं को बहा ले जाने वाले चरित्र के रूप में प्रस्तुत करती है। किरण की अहल्या सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक मान्यताओं को तोड़ती तो हैं ही, वह देवताओं और अवतारों पर भी सवाल उठाती हैं। शिलावहा की अहल्या क्रांतिकारी तो है, लेकिन वह सदियों से चली आ रही मान्यताओं को धूसरित करती है। सदियों से जिन मान्यताओं और चरित्रों को जिन रूपों में व्यापक समाज देखता समझता रहा है, उसे यह उपन्यास खंडित करता है। बेशक किरण की अहल्या प्रेम के अर्थों को जी रही है, लेकिन वह प्रचलित मान्यताओं को पूरी तरह खारिज करती है। हालांकि इस उपन्यास में वह प्रेम में ठगी भी जाती है। जिस इंद्र के प्रेम में वह खो जाती है, पत्थर बनने को मजबूर होती है, वह भी उसे उसके हाल पर छोड़ देता है।

मौजूदा दौर में जिस तरह का विमर्श चल रहा है, उसमें क्रांतिधर्मा चेतनाओं को यह उपन्यास पसंद तो आ सकता है, लेकिन वह जिस तरह सामाजिक मान्यताओं को धूसरित कर रहा है, वह सहज स्वीकार्य नहीं हो सकता। चूंकि हिंदी समाज आज के दौर में रचनात्मक कृतियों के अवगाहन में ज्यादा डूबना पसंद नहीं करता, इसलिए यह उपन्यास अभी भी व्यापक समुदाय से अछूता है। शायद यही वजह है कि प्रचलित और पारंपरिक मान्यताओं को धूल-धूसरित करने के बावजूद इस उपन्यास पर अभी तक बड़े सवाल नहीं उठ पाए हैं।

उपन्यास

कथा में प्रेम की अविरल धारा

राकेश मिश्र

कथाकार

संपर्क :
सहायक प्रोफेसर
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. 9970251140

फिनलैंड के प्रवासी जीवन पर प्रो. गोपीनाथन का हिंदी में यह पहला मौलिक उपन्यास है जो एक साथ दोनों देशों के सांस्कृतिक संबंधों और एकता के नाजुक संतुलन को आश्चर्यजनक तरीके से साधे रखता है। प्रेम की एक अविरल धारा इस उपन्यास का मुख्य कथानक है जो तमाम विवरणों, डायरियों के इंद्राज, यात्रा संस्मरणों की कोलाज जैसी लगने वाली कृति को मुकम्मल उपन्यास का दर्जा देता है।

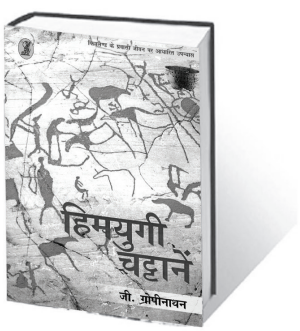

पुस्तक: हिमयुगी चट्टानें
लेखक: जी. गोपीनाथन
प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2017
पृष्ठ: 80
मूल्य: ₹ 200

प्रो. जी. गोपीनाथन की पहचान एक वरिष्ठ भाषा वैज्ञानिक, अनुवादक और नवोन्मेषी शिक्षाशास्त्री की रही है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के दूसरे कुलपति के रूप में उन्होंने भाषा प्रौद्योगिकी और अनुवाद प्रौद्योगिकी जैसे विषय शुरू कर हिंदी भाषा के परंपरागत अध्ययन-अध्यापन को जैसे एक नई उड़ान दी थी। एक अनुवादक के तौर पर भक्त कवयित्री मीरांबाई की कविताओं का मलयालम में अनुवाद कर उन्होंने भारतीय साहित्य को मूल्यवान थाती सौंपी है। शिवराम कारत के प्रसिद्ध उपन्यास 'मृत्यु के बाद' तथा पी.के. बालकृष्णन के उपन्यास 'अब मुझे सोने दो' का हिंदी अनुवाद कर उन्होंने हिंदी जगत की संवेदनाओं को भी समृद्ध किया है। यह अन्यथा नहीं है कि हिंदी और मलयालम में लगभग दर्जन भर किताबें लिख चुके प्रो. गोपीनाथन को भारत सरकार के राहुल सांस्कृत्यायन पुरस्कार, भारतीय अनुवाद परिषद के नाताली पुरस्कार समेत अनेक सम्मानों से नवाजा जा चुका है। इतने गंभीर और अकादमिक कार्यों के अतिरिक्त प्रो. गोपीनाथन ने कुछ छोटी-छोटी कहानियां भी लिखी हैं, जो समय-समय 'हंस', 'कथादेश' जैसी प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होती रही है। लगभग 75 वर्ष की उम्र में 'हिमयुगी चट्टानें' नाम से उनका पहला उपन्यास उनके पाठकों और प्रशंसकों के लिए चौंकानेवाले उपहार की तरह है। यह उपन्यास अपने आप में इस बात का सबूत है कि रचनात्मकता किसी उम्र की मोहताज नहीं।

फिनलैंड के प्रवासी जीवन पर हिंदी में यह पहला मौलिक उपन्यास है जो एक साथ दोनों देशों के सांस्कृतिक संबंधों और एकता के नाजुक संतुलन को आश्चर्यजनक तरीके से साधे रखता है। प्रेम की एक अविरल धारा इस उपन्यास का मुख्य कथानक है जो तमाम विवरणों, डायरियों के इंद्राज, यात्रा संस्मरणों के कोलाज जैसी लगने वाली कृति को मुकम्मल उपन्यास का दर्जा देता है।

उपन्यास का नायक अजीत सिंह है जो जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में इतिहास का छात्र है। गोवा में आयोजित एक अंतरराष्ट्रीय समाज विज्ञान सम्मेलन में उसकी मुलाकात फिनलैंड की लूमी हालोनेन से होती है जो हेलसिंकी से आई होती हैं। पहली मुलाकात में ही अजीत सिंह और लूमी में एक तरल सा रिश्ता बन जाता है, जो बाद में अजीत सिंह के हेलसिंकी पहुंचने का एक प्रमुख कारण बनता है। यह बात और है कि घोषित तौर पर अजीत सिंह वहां भारत और फिनलैंड के सांस्कृतिक संबंधों पर शोध के लिए आमंत्रित किए जाते हैं लेकिन पाठकों को लूमी का यह शरारतपूर्ण आमंत्रण सहज बोधगम्य है।

अजीत, क्या तुमने वात्स्यायन का कामसूत्र पढा है। थोड़ा बहुत पढ़ा है, झेंपते हुए अजीत सिंह ने कहा था।

मैं अब उस ग्रंथ का अध्ययन कर रही हूँ, पढ़ते समय मुझे कुछ बातें समझ में नहीं आती, लूमी की मुस्कुराहट में एक नटखटपन था।

उपन्यास का एक बड़ा हिस्सा इस तरह मुस्कुराहट और शालीन नटखटपने से भरा है। स्त्री पुरुष संबंधों पर आपसी चर्चा या दूतावास में जमा हुए प्रवासी भारतीयों के बीच कामसूत्र की टेक्नोलॉजी की चर्चा या केरल में नंबूदरी ब्राह्मणों की संबंध नामक प्रथा की

चर्चा तो संस्कृतियों के आपस में बेतकल्लुफ होने में तकनीक के तौर पर इस्तेमाल की गई है। उपन्यास के शिल्प का एक बड़ा हिस्सा अजीत सिंह की डायरी के पन्नों से पूरा होता है। डायरी शिल्प में होने के कारण पाठक बड़ी आसानी से फिनलैंड की रोजमर्रा के जीवन से परिचित होते जाते हैं। फिनलैंड के लोगों का रहन-सहन उनकी आदतें, उनका स्वभाव उनमें शिष्टाचार के तरीके, उनकी मेहमाननवाजी - सब इतनी सहजता से हमारे सामने पृष्ठ दर पृष्ठ खुलने लगते हैं कि पाठक बड़ी जल्दी एक अजनबी परिवेश में रच-बस जाता है। उपन्यास में घट रही घटनाएं पाठकों को अपने आस-पास की घटनाएं लगने लगती हैं। फिनलैंड जैसे नितांत अपरिचित देश के माहौल को इतनी सहजता से बिलकुल कम पन्नों में सहज और सरल बना देने का कौशल किसी सिद्धहस्त उपन्यासकार से ही अपेक्षित है और यह शिल्पगत कौशल देखकर यकीन करना मुश्किल है कि यह लेखक की पहली कथात्मक कृति है जबकि लेखक उम्र के 75वें वर्ष में हैं। नायक अजीत सिंह और लूमी के बीच बन रहे इस तरल संबंधों के बीच अचानक सुभाष और सुमा का प्रवेश होता है। सुभाष राय एक प्रवासी भारतीय कारोबारी हैं और सुमा उसकी पत्नी है। सुभाष के निर्बंध जीवन से परेशान सुमा जल्द से जल्द फिनलैंड छोड़ना चाहती हैं। वह सुभाष राय की बिना जानकारी में चुपचाप वहां से भाग जाना चाहती है। वह अजीत सिंह से इसरार करती है कि वह भारत जाते समय सुमा को भी वहां से निकलने में मदद करें। अजीत सिंह इस स्थिति के दुष्परिणाम को भांप रहे, फिर भी वे सुमा की मदद को तत्पर हो गए। इस मानवीय मदद के अलावा अजीत सिंह और सुमा में कुछ भी नहीं घटता लेकिन यह स्थिति अजीत सिंह के जीवन में विस्फोट की तरह घटती है। लूमी समेत तमाम भारतीय दोस्त अजीत सिंह को धोखेबाज, फरेबी और लंपट मान बैठते हैं। अजीत सिंह अपनी स्थिति पर हैरान और परेशान होते हैं। खासकर लूमी की ऐसी प्रतिक्रिया उन्हें तोड़ डालती है। यहां इस उपन्यास का शीर्षक

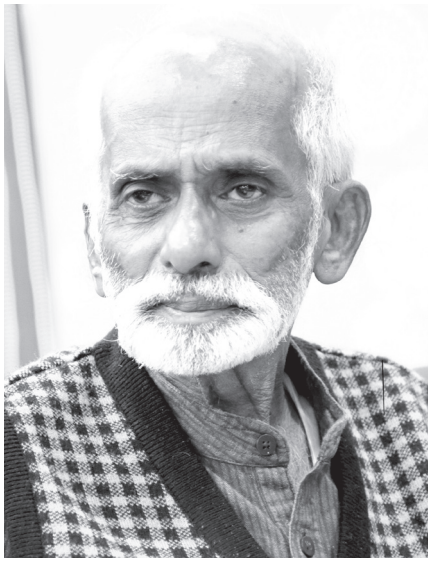

प्रो. गोपीनाथन ने कुछ छोटी-छोटी कहानियां भी लिखी हैं, जो समय-समय हंस, कथादेश जैसी प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होती रही है लेकिन लगभग 75 वर्ष की उम्र में 'हिमयुगी चट्टानें' नाम से उनका पहला उपन्यास उनके पाठकों और प्रशंसकों के लिए चौंकानेवाले उपहार की तरह है। यह उपन्यास अपने आप में इस बात का सबूत है कि रचनात्मकता किसी उम्र की मोहताज नहीं।

'हिमयुगी चट्टानें' सही अर्थों में व्यंजित होता है, जब अजीत सिंह महसूस करते हैं कि उनके और लूमी के संबंधों के बीच यही हिमयुगी चहानें खड़ी हो गई हैं जिसे हटाया नहीं जा सकता है। अजीत सिंह का टूटा दिल भारत से आई योगिनी अम्मा के आशीर्वाद से श्यामा से जुड़ता है। दोनों की शादी होती है और दो बच्चे भी होते हैं, लेकिन आर्थिक दबावों का सामना न कर पाने के कारण यह शादी टूट जाती है, उपन्यास में श्यामा का यह वचन शब्दों में जितना ठंडापन लिए है। अजीत सिंह के लिए उतनी ही झुलसाने वाले - 'अब हम अलग रहें, यही अच्छा है। मैं हेलसिंकी में नहीं रह सकती यूं ही तोरिनया में मुझे बहुत काम है। बच्चों की परवरिश सरकार करेगी। हमारा संबंध यहीं पर समाप्त हो रहा है।'

इस टूटन के बाद अजीत सिंह लगभग बिखर जाते हैं। उन्हें दिल का दौरा भी पड़ता है, लेकिन फिर वे संभलते हैं और अंततः खोज शुरू होती है अपने आपको पाने की अपने आनंद को पाने की अपनी वास्तविक खुशी को पाने की और वह अंततः 'शांतिग्राम' की अवधारणा में खत्म होती है। प्रकृति की ओर लौटो के घोषवाक्य से शांतिग्राम की परिकल्पना वस्तुतः इस उपन्यास का नया प्रस्थान बिंदु है, जहां से एक नए उद्देश्य, एक नए जीवन की शुरुआत होती है। लेखक ने वर्षों तक फिनलैंड में अध्यापन किया है। इस लिहाज से फिनलैंड की प्रकृति, वहां का जीवन, वहां का सौंदर्य उनका फस्ट हैंड अनुभव है। भाषा में किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है और समूचा उपन्यास नामालूम तरीके से बिना किसी गहमागहमी और धमाके के खत्म हो जाता है लेकिन अपने पीछे हिमयुगी चट्टानों का सा ठंडा सर्द अहसास छोड़ जाता है।

अंत में एक बात अभी-अभी सना मरीन फिनलैंड की प्रधानमंत्री निर्वाचित हुई हैं। अपनी उम्र, अपने विचार और जीवन शैली को लेकर वे समूची दुनिया के आकर्षण का केंद्र हैं। उपन्यास में लूमी का चरित्र न जाने क्यों बार-बार आपको सना मरीन से मिलता जुलता लगेगा या यदि आपको सना मरीन को ठीक से जानना है तो आप इस उपन्यास को जरूर पढ़ें, खासकर लूमी को।

डायरी शिल्प में होने के कारण पाठक बड़ी आसानी से फिनलैंड की रोजमर्रा के जीवन से परिचित होते जाते हैं। फिनलैंड के लोगों का रहन-सहन उनकी आदतें, उनका स्वभाव उनमें शिष्टाचार के तरीके, उनकी मेहमाननवाजी - सब इतनी सहजता से हमारे सामने पृष्ठ दर पृष्ठ खुलने लगते हैं कि पाठक बड़ी जल्दी एक अजनबी परिवेश में रच-बस जाता है और उपन्यास में घट रही घटनाएं पाठकों को अपने आस-पास की घटनाएं लगने लगती हैं। फिनलैंड जैसे नितांत अपरिचित देश के माहौल को इतनी सहजता से बिलकुल कम पन्नों में सहज और सरल बना देने का कौशल किसी सिद्धहस्त उपन्यासकार से ही अपेक्षित है और यह शिल्पगत कौशल देखकर यकीन करना मुश्किल है कि यह लेखक की पहली कथात्मक कृति है जबकि लेखक उम्र के 75वें वर्ष में हैं।

कविता

लालन शाह फकीर के गीत

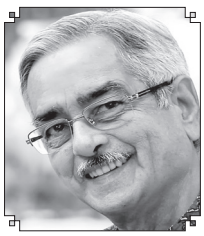

प्रयाग शुक्ल

कवि-आलोचक

संपर्क :
एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज,
सेक्टर-93
नोएडा-201304 (उ.प्र.)

'लालन शाह फकीर के गीत' पुस्तक ने कई स्मृतियां ताजा की हैं। 'लालन शाह फकीर के गीत' में 105 गीत हैं। माना जाता है कि उन्होंने कोई दस हजार गीतों की रचना की थी। कई तो बचे ही नहीं। मुचकुंद दुबेजी के अनुवाद छंद में तो नही हैं, पर, उसकी शायद बहुत जरूरत भी नहीं हैं। बाउल, उनका वैसा अनुवाद बहुत असंभव सा भी है। जो कुछ उन्होंने किया है, वह बहुत उपयोगी है-अर्थ और मर्म ग्रहण के लिए। इन गीतों के अनुवाद में इस बात का ध्यान रखा गया है कि ये गीत हिंदी में उसी सुर व लय में गाए जा सकें जैसे बांग्ला में गाए जाते हैं। इसके लिए लेखक ने हिंदी में अनुवादित गीतों की प्रत्येक पंक्ति में करीब करीब उतनी ही मात्राएं रखी हैं जितनी बांग्ला में हैं... हिंदी अनुवाद में प्रयुक्त शब्दों एवं शब्द-समूहों के समीप रखने का प्रयास किया गया है।

बाउल गान या बाउल गीति के सुर गूंजते ही एक रहस्यमयी प्रतीति, एक मधुरता, एक करुणा एक आकुल पुकार गूंज उठती है। बाउल गायक और बाउल श्रोता मानो वही नहीं रह जाते जो उस वक्त थे, जब बाउल-सुर गूंज नहीं रहा था, और जिस भी जगह पर, गांव, शहर, खेत-खलिहान, गली सड़क, ट्रेन-बस में वह गूंज उठता है, वह जगह भी मानों वही नहीं रह जाती-वह जगह झंकृत-सी हो उठती है! सो, बंगाल और बांग्लादेश में किसी 'बाउल' (गायक) के प्रकट होते ही, मानों एक 'आकुल' पुकार सुनने के लिए लोग लालायित हो उठते हैं। वे भी बाउल-व्याकुल हो उठते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि 'बाउल' शब्द, 'व्याकुल' जनित और सृजित है।

बाउल कुल मिलाकर अपनी अंतिम परिणति में एक 'बोध' है, एक रियलाइजेशन, और हम सब जानते हैं कि 'बोध' की व्याख्या बहुत मुश्किल होती है। सो आज जब 'लालन शाह फकीर के गीत' पुस्तक, जिसका चयन और संपादन, तथा बांग्ला से हिंदी अनुवाद मुचकुंद दुबे ने किया है, पर हम चर्चा कर रहे हैं, तो जाहिर है कि मैं बहुत दुविधा में हूं। यह दुविधा इसलिए भी है कि हममें से अधिकतर लोगों ने, बाउल गान सुने ही हैं, पढ़े नहीं हैं। लालन शाह फकीर के ही गीत आज भी 'बाउल' गान करने वाले अधिकतर गाते हैं। इन गीतों में 'लालन' नाम प्रायः नत्थी है, और इस नाते 'लालन शाह फकीर' और बाउल एक-दूसरे के पर्याय हो उठे हैं। लोग बाउल के शब्दों पर बाउल गान के शब्दों पर कितना ध्यान देते हैं, सचमुच, यह नहीं जानता। अपनी कहूं तो मैं भी सब शब्दों पर बाउल सुनते हुए ध्यान नहीं देता रहा। हां, 'बाउल' की आकुल पुकार में कुछ शब्द एक बिंब की तरह चमक उठते हैं, और अपने लिए एक सम्मोहन पैदा करते हैं, इसका अनुभव जरूर करता रहा हूं।

बाउल गाने के लिए है, और जापानी हाइकु और तान्का विधाओं की रचनाएं विनम्र सुर में धीर स्वर में, पाठ के लिए हैं, यह जानते हुए भी, आज इनको एक प्रसंग में याद करना चाहता हूं, और वह प्रसंग है, कि बाउल की पंक्तियां, हाइकु और तान्का की तरह एक दूसरे से कभी संबद्ध कभी असंबद्ध प्रतीति होती हैं, पर, गहरे में जुड़ी होती हैं। इस बात को, इस प्रसंग को, एक नई तरह से अनुभव कर पा रहा हूं तो इसके लिए भी कि 'लालन शाह फकीर' के गीतों को नागरी में उनके मूल में मुद्रित, और हिंदी में अनुदित करके, अनुवादक ने एक बड़ा उपहार दिया है। यही उपहार कि पाठक गीतों का अपनी भाषा में स्वयं पाठ करके, उन्हें और गहराई से समझ सकें, उनमें निहित अर्थों और बिंबों को चिह्नित कर सकें, और अपने तईं नए अर्थ निकाल भी सकें। बांग्ला लिपि में भी इन्हें प्रस्तुत करके उन्होंने एक और सुंदर काम किया है। उसी भाषा में ये गीत लिखे गए हैं, और उसी में गाए जाते हैं। और मानों वह लिपि इनके मूल का एक चित्र-आभास देती है। इस पुस्तक की एक शोधपरक, सरस, विस्तृत भूमिका भी उन्होंने लिखी है, जो कई शीर्षकों में बंटी हुई है, मसलन 'लालन शाह फकीर का जीवन वृत्तांत', 'बाउल पंथ का काल निरुपण', 'लालन शाह फकीर के गीत', 'समाज सुधारक के रूप में' 'लालन फकीर, लालन शाह और रवींद्रनाथ ठाकुर', 'लालन शाह और कबीर' आदि। यह भूमिका बहुत काम की है, और आगे भी पीढ़ियों के काम आती रहेगी। इस भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'लालन शाह फकीर ने अपने गीतों को गाने के पहले लिपिबद्ध नहीं किया। जब भाव आया तब गा दिया फिर उस गीत को पलटकर नहीं देखा जब नया भाव आया तो नए गीत की रचना कर दी। उनके गीत झरने के पानी की तरह थे जो

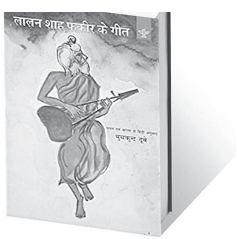

पुस्तक : लालन शाह फकीर के गीत
चयन एवं बांग्ला से हिंदी अनुवादः मुचकुंद दुबे
प्रकाशकः इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्षः 2017
पृष्ठ : 375
मूल्य : ₹ 500

बहते रहते थे।

उनका मानना था कि लिखने से धारा अवरुद्ध हो जाएगी और गीतों का सौंदर्य और प्रभाव नष्ट हो जाएगा।'

पुस्तक की भूमिका में दुबेजी ने आगे लिखा है, 'उनको इनमें संशोधन का अवकाश नहीं था। छंद मिलाने की माथापच्ची में भी वह नहीं पड़े। उनके गीतों में से कुछ को उनके गाने के बाद लिपिबद्ध कर लिया जो लालन शाह के अखाड़े में रखे खाते में पाए गए थे। अभी सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं।'

जब से कविता किसी भी देश-काल में, किसी भी माध्यम में कागज, बही, कपड़े में उतारी जाने लगी और फिर उसका मुद्रित रूप भी आया, अब वह कंप्यूटर और मोबाइल स्क्रीन पर भी है, तब से मानों वह 'सुनने' के साथ 'देखने' की-एक चित्र की भांति देखने की चीज भी हो गई है और उसे देखकर, इस रूप में, अपने और निकट पाकर हम प्रसन्न तो होते हैं। यह अलग बात है कि लालन शाह फकीर के गीत सुनने की इच्छा रखने वाले, अब उनको 'यू ट्यूब' पर भी सुन सकते हैं और उनके निकट हो सकते हैं। पर, शब्द का दिखना, भी प्रीतिकर लगता है-इसे फिर दुहरा लूं और फिर दुबेजी को इस महत्वपूर्ण काम के लिए बधाई दे लूं। 'बाउल गान' और 'हाइकु' और तान्का प्रसंग की ओर एक बार फिर लौटूं!

कविता का एक बड़ा काम यह है कि वह कभी असंबद्ध लगती चीजों को जोड़ती है, कभी किसी उपमा से दो अलग चीजों को जोड़ती हुई एक 'सादृश्य' उपस्थित करती है। कभी दो बिंबों को साथ रखकर एक विचित्र सी चित्रमयता और सुरमयता रचती है। कभी वह एक-सी लय में एक भाव को कई तरह से कहती है। कविता के ये गुण कुछ विधाओं में, कविता और गीति के कुछ रूपों में, मानों एक साथ समाहित लगते हैं या उन कुछ विधाओं में बारी-बारी से आते-जाते रहते हैं। कह सकते हैं कि हाइकु-तान्का और लालन के गीति-कुछ मामलों में ऐसे ही हैं। प्रकृति भिन्न हैः गुण एक से हैं। लालन का एक गीत देखिएः पहले मूल बांग्ला रूप देवनागरी

कविता किसी भी देश-काल में, किसी भी माध्यम में कागज, बही, कपड़े में उतारी जाने लगी और फिर उसका मुद्रित रूप भी आया, अब वह कंप्यूटर और मोबाइल स्क्रीन पर भी है, तबसे मानों वह 'सुनने' के साथ 'देखने' की-एक चित्र की भांति देखने की चीज भी हो गई है और उसे देखकर, इस रूप में, अपने और निकट पाकर हम प्रसन्न तो होते हैं। यह अलग बात है कि लालन शाह फकीर के गीत सुनने की इच्छा रखने वाले, अब उनको 'यू ट्यूब' पर भी सुन सकते हैं और उनके निकट हो सकते हैं।

लिपि में और फिर उसका हिंदी अनुवाद मुचकुंद दुबेजी के शब्दों में। इस पुस्तक में वह गीत 48वीं संख्या वाला है :

की एक अचिन पाखी पुषलाम खांचाय,
हलो ना जनम भरे तार परिचय।

आँखिर कोने पाखिर बासा,
देखले नारि कि तामाशा।
आमार ए आंधला दशा,
के आर धूचाय ?

पाखी राम रहीम बूलि बोले,
धरे से अनंत लीले,
बलो तारे के चिनिले,
बलो गो निश्चय।

जारे साथे साथे लये फिरि,
तारि यदि चिनते नारि,
लालन कय अधर धरि,
किरुप ध्वजाय ?

और इसका हिंदी अनुवाद :
कैसा एक अनचीह्ना पंछी पोसा पिंजड़े में,
न हुआ जनम भर जिससे परिचय

आँख के कोने में पंछी का बसेरा
देख न पाऊं क्या है तमाशा ?
मेरी इस धुंधलेपन की दशा
कौन कब मिटाए

पंछी राम रहीम की बोली बोलता
करता वह अनंत लीला
बोलो उसे किसने चीह्ना
बोलो रे निश्चय

जिसे साथ-साथ ले फिरता,
काश उसे पाता पहचान,
लालन कहे अधर को धरूं,
किस रूप-ध्वजा से।

अब अप्रतिम जापानी कवि इशिकावा ताकुबोकु (1886-1912) का एक तान्का देखिये वरयाम सिंह के अनुवाद में :

'मैं श्वास लेता हूं छोड़ता हूं
छाती के भीतर सुनाई देती है फड़फड़ाहट
उफ यह फड़फड़ाहट एकाकी है पेड़ को सुखाती है हवा से अधिक।'

और एक और तान्का :

'जैसे ही गाड़ी ली मैंने
लंबे अंतराल के बाद मुझे अहसास हुआ
जैसे मैं लौट रहा हूं अपने घर जहां हमेशा उड़ता रहा है मेरा मन।'

बिंबों चित्रों की गतिमयता, लय और एक उलटबांसी की-सी प्रतीति दोनों विधाओं में है।

एक, लालन गीति गाने के लिए है मुखर स्वर में, एक, सुनने या पाठ के लिए है धीमे अंदाज में और इसी तरह लालन के यहां ऐसी पंक्तियां भी हैंः 'साईं निकट से दूर दिखते हैं जैसे केश की आड़ में पहाड़ छिपा' या 'अगर उस पंछी को

'लालन शाह फकीर ने अपने गीतों को गाने के पहले लिपिबद्ध नहीं किया। जब भाव आया तब गा दिया। फिर उस गीत को पलटकर नहीं देखा। फिर जब नया भाव आया तो नए गीत की रचना कर दी। उनके गीत झरने के पानी की तरह थे जो बहते रहते थे। उनका मानना था कि लिखने से धारा अवरुद्ध हो जाएगी और गीतों का सौंदर्य और प्रभाव नष्ट हो जाएगा।'

पकड़ पाता तो मन बेड़ी लगाता उसके पांव।'

इशिकावा ताकुबोकु, का जन्म है 1886 का, और लालन शाह फकीर का निधन हुआ था 1890 में सो दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर तो नहीं हैं।

बहरहाल, दोनों की याद इसलिए भी की एक साथ क्योंकि जब बाउल गाया जाता है, तो बाउल गायक अपनी भावमयता और भावप्रवणता में कुछ शब्दों को अधिक गुंजाता है और कुछ शब्द मानों वह गटक-सा लेता है। सो, अधिक गूंजते हुए शब्द, अपने चित्र को, अपने रूप को, अधिक उजागर करते हैंः मसलन 'पाखिर बासा' शायद अधिक सुन पड़ेगा, और पक्षी के नीड़ और आँख का 'संबंध'-आंखिर कोने पाखिर बासा-एक नए मर्म के साथ उतरेगा। वैसे तो कविता मात्र में-किसी भी कविता में आध्यात्मिक भी प्रतीति रहती ही रहती है पर, सूफी कवियों में, संत कवियों में, पंथ वाले कवियों में-और उनकी परंपरा में, इस प्रतीति का हस्तांतरण-सा होता चला गया है।

इस संदर्भ में भी मैंने बाउल गीति और हाइकु-तान्का की याद की है। विश्व की जिन कविता-धाराओं में एक तड़प-सी मिलती है, परम सत्ता के साथ होने की, आत्म को उससे एकात्म करने की, जैसे आत्म हो तो उसी का हिस्सा पर उससे बिछुड़न की प्रतीति गहरी हो गई हो-वे एक करुणा भाव, एक विरह भाव भी लिए रहती हैं। बाउल अगर इस लोक का उत्सव मनाता है, तो उसका पीड़ा बोध भी कम गहरा नहीं है।

कबीर को लालन याद करते हैं और लालन को रवींद्रनाथ ठाकुर तो एक कड़ी बनती है और पिछले वर्ष जब बॉब डिलन को नोबेल पुरस्कार मिला तो, कई अखबारों को पूर्णचंद्र दास बाउल की याद आई थी जिनके बेटे के विवाह पर नब्बे के दशक में बॉब डिलन कोलकाता आए थे। बॉब डिलन बाउल से प्रभावित रहे हैं और पूर्णचंद्र दास को अमेरिका बुलाकर उनका कार्यक्रम करा चुके हैं।

तब मैंने भी याद किया था कि एक चक्र पूरा हुआ नोबेल पुरस्कार के संदर्भ में भी रवींद्र प्रभावित हुए थे बाउल गीति से, लालन गीति से, और बॉब डिलन भी हुए बाउल से, तो एक कड़ी बनी न !

बाउल जहां भी जाता है, उसका गायन, वह मर्म को छू लेता है। भाषा समझ में आए या न आए पर, यह भी तो सच है कि अगर बाउल गीति को हम 'पाठ' में भी पढ़ते हैं, उसके शब्दों को किसी गीति के व्यवस्थित क्रम में देखते हैं, उसका अध्ययन करते हैं, तो वह भी तो एक अलग-सा अनुभव हमें देता है इसलिए जरूरी

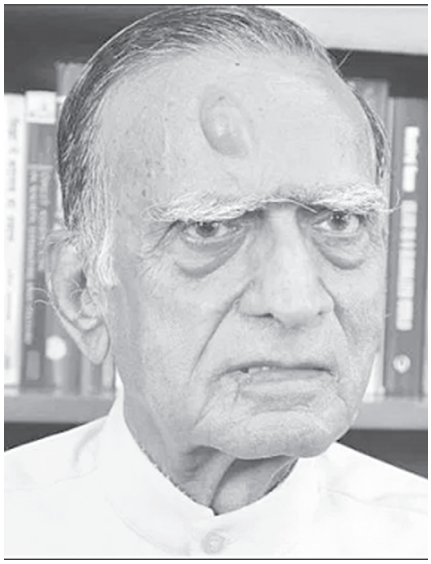

बाउल कुल मिलाकर अपनी अंतिम परिणति में एक 'बोध' है, एक रियलाइजेशन, और हम सब जानते हैं कि 'बोध' की व्याख्या बहुत मुश्किल होती है। सो आज जब 'लालन शाह फकीर के गीत' पुस्तक, जिसका चयन और संपादन तथा बांग्ला से हिंदी अनुवाद मुचकुंद दुबे ने किया है, पर हम चर्चा कर रहे हैं।

है कि बाउल-गीति के, लालन गीति के अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हों। उसके पठन-पाठन का भी एक क्रम बने, विभिन्न भाषाओं में। लालन संत थे, फकीर थे, सूफी परंपरा के भी थे और वह एक बड़े कवि भी थे।

बाउलों की, बाउल गायकों की संख्या बढ़ती गई है और अब तो पार्वती बाउल जैसी बाउल गायिकाएं भी हैं, जो बाउल पंथ की नहीं है, पर, जिन्होंने बाउल गीतों गायन से पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

बाउल पंथी, बाउल गायक, गृहस्थी बसाते हैं, पर, संतान पैदा नहीं करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो परित्यागी जीवन बिताते हैं। समाजच्युत हैं वे, पर समाज उन्हें मान-सम्मान-दान-देता आया है।

कोलकाता में अपना कैशोर्य और यौवन बिताने वाला मैं, बाउलों को तब से सुनता रहा हूं, जब यह जानता नहीं था कि वे कौन हैं! उनका इतिहास क्या है? आदि-अंत क्या है?

नहीं, उनका कोई आदि-अंत नहीं है बस 'बाउल' है, रहेगा। बाउल-गीतों को भी बस बाउल ही कहते हैं और गायकों को भी बस 'बाउल' ही। हाथ में एकतारा लिए, या छोटा-सा ढोल लिए, मंजीरे और घुंघर-नूपुर का भी प्रयोग करने वाले, सधुक्कड़ी सा बाना धारण किए, 'बाउल' गाते-नाचते मानों एक और ही लोक की सृष्टि करते हैं। 'मोनेर मानुष' वाले बाउल स्वयं मानुष-तत्व को जिन झंकृत स्वरों में व्यक्त करते हैं, वे लालन के बिना, इस तरह तो झंकृत न होते !

'लालन शाह फकीर के गीत' पुस्तक ने मेरे भीतर बहुत कुछ जगाया है। कई स्मृतियां ताजा की हैं, जिनमें एक यह भी है कि हावड़ा से बोलपुर-शांतिनिकेतन आते-जाते ट्रेन में भी बाउलों को सुना है एकाधिक बार। और उनके सुरों के साथ, अंतर्मन में एक लय ऐसी उतरी-फैली है, जिससे मैं और सहयात्री, आप्लावित हुए हैं। मैंने कहा था न बाउल एक बोध है और बोध की व्याख्या जरा मुश्किल है पर व्याख्या भी होनी चाहिए उन्हें लेकर चर्चा लिखना-लिखाना।

इस पुस्तक ने मानो इस दिशा में भी अग्रसर होने के लिए उकसाया है। 'लाल शाह फकीर के गीत' में 105 गीत हैं। माना जाता है कि उन्होंने कोई दस हजार गीतों की रचना की थी। कई तो बचे ही नहीं। मुचकुंद दुबे के अनुवाद छंद में तो नही हैं, पर, उसकी शायद बहुत जरूरत भी नहीं हैं। बाउल, उनका वैसा अनुवाद बहुत असंभव-सा भी है। जो कुछ उन्होंने किया है, वह बहुत उपयोगी है-अर्थ और मर्म ग्रहण के लिए। बांग्ला में, बाउल परंपरा में बहुत रचे-बसे-धंसे हैं बाउल गान। हां, उन्हें कोई चाहे तो अपनी लिपि में उतारकर गा सकता है, या बांग्ला सीखकर ऐसा कर सकता है। जैसा कि स्वयं मुचकुंद दुबे का कथन है, कोई चाहे तो पूरी संभावना है कि इन्हें गाया भी जा सके। वह भूमिका में लिखते हैंः 'इन गीतों के अनुवाद में इस बात का ध्यान रखा गया है कि ये गीत हिंदी में उसी सुर व लय में गाए जा सकें जैसे बांग्ला में गाए जाते हैं। इसके लिए लेखक ने हिंदी में अनुवादित गीतों की प्रत्येक पंक्ति में करीब-करीब उतनी ही मात्राएं रखी हैं जितनी बांग्ला में हैं... हिंदी अनुवाद में प्रयुक्त शब्दों एवं शब्द-समूहों के समीप रखने का प्रयास किया गया है।'

बहरहाल गौरतलब यह भी है कि किसी भी ज्ञान परंपरा का, साधना परंपरा का, दर्शन परंपरा का अध्ययन भी तो बहुत कुछ देता है। सो, मुचकुंद दुबे को और साहित्य अकादेमी को बधाई, जिसने यह पुस्तक प्रकाशित की है। निश्चय ही यह हिंदी के भंडार को समृद्ध करने वाली है।

मीरांकालीन समाज की पड़ताल

श्रीभगवान सिंह

आलोचक

संपर्क :
102, अम्बुज टॉवर
तिलकामांझी
भागलपुर
बिहार-812001 (बिहार)
मो. 9801055 395

निर्गुनिया भक्त कवियों के संबंध में सामाजिक विद्रोह, क्रांति की, तो सगुण भक्त कवियों के काव्य में सामाजिक सरोकारों की खूब चर्चा होती रही, वहीं मीरां के काव्य-संसार में रूपायित इन मूल्यों की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं जा सका और मीरां की समग्रता में विद्यमान छवि सामने आने से रह गई। इन सब बातों को देखते हुए डॉ. माधव हाड़ा की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'पचरंग चोला पहर सखी री' मीरां को उनके समकालीन समाज के संदर्भ में सही-सही रूप में देखने-समझने का एक नया प्रकाशपुंज बनकर सामने आई है।

भक्ति आंदोलन की कवि-पुंगव-मंडली में निर्विवाद रूप से मीरां का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है, किंतु उनकी छवि एक श्रेष्ठ लोकप्रिय एवं सामाजिक सरोकार रखने वाली कवयित्री के बजाय एक कृष्ण-भक्तिन, श्री कृष्ण के प्रेम में रची-बसी एक प्रेमिका, एक विरहिणी, एक सन्यासिनी, 'लोक-लाज तज कर पग घुंघरू बांध' नाचने वाली के रूप में चर्चित अधिक रही है। हाल के वर्षों में उभरे स्त्रीवादी विमर्शकारों ने इस छवि पर रंग-रोगन चढ़ाते हुए मीरां की छवि को पितृसत्तात्मक एवं पुरुष-वर्चस्ववादी समाज द्वारा प्रताड़ित, लांछित, उपेक्षित, दांपत्य-प्रेम से वंचिता नारी के रूप में उकेरकर रख दिया। निस्संदेह इसके पीछे उन जनश्रुतियों, किंवदंतियों तथा ऐतिहासिक-अनैतिहासिक आख्यानों का योगदान रहा है जो मीरां के परवर्ती काल में गढ़े, निर्मित किए गए। नतीजा हुआ कि जहां निर्गुनिया भक्त कवियों के संबंध में सामाजिक विद्रोह, क्रांति की, तो सगुण भक्त कवियों के काव्य में सामाजिक सरोकारों की खूब चर्चा होती रही, वहीं मीरां के काव्य-संसार में रूपायित इन मूल्यों की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं जा सका और मीरां की समग्रता में विद्यमान छवि सामने आने से रह गई। इन सब बातों को देखते हुए डॉ. माधव हाड़ा की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'पचरंग चोला पहर सखी री' मीरां को उनके समकालीन समाज के संदर्भ में सही-सही रूप में देखने-समझने का एक नया प्रकाशपुंज बनकर सामने आई है।

नाना इतिहास-ग्रंथों, जनश्रुतियों, लोक-आख्यानों का गहन मंथन, अवगाहन करते हुए माधव हाड़ा इस तथ्य से अवगत कराते हैं कि मीरां (जन्म 1498 ई.-मृत्यु 1548 से 60-65 के बीच अनुमानित) महज एक असहाय, निस्तेज, दुख की मारी, करुणा विगलित, 'अबला जीवन, आंचल में दूध और आँखों में पानी' जैसी उक्तियों को चरितार्थ करनेवाली नारी नहीं थी बल्कि उसके एक दर्प का तेज था, स्वाभिमान का ताप था और थी भक्ति की स्निग्धता। डॉ. हाड़ा के शब्दों में, 'वह (मीरां) पगली-दीवानी भक्ति में डूबी स्त्री नहीं थी। उसका लालन-पालन एक स्वाभिमानी, आत्मनिर्भर और जीवन की उठापटक से अवगत विवेकवान युवती के रूप में हुआ था। वह भगवाधारी, असहाय और दीनहीन साध्वी भी नहीं थी। उसके आर्थिक स्वावलंबन के पारंपारिक प्रावधान थे और उसे मजबूत सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी।'

आम तौर पर यह धारणा प्रचलित रही है कि मीरां के अपने पति भोजराज से अच्छे संबंध नहीं थे, उसका दांपत्य जीवन कटुतापूर्ण था और उसने पति से विद्रोह करके भक्ति-मार्ग का अनुगमन किया। यह बात गुजरात में भी इतनी प्रसिद्ध थी कि गांधीजी भी अपने एक लेख में यह लिख गए कि 'मीरांबाई ने अपनी आत्मा की आवाज पर अपने पति को नाराज कर दिया था, उससे अलग रहने में ही संतोष माना और पति की इच्छा के आगे झुकाने के लिए उसे जो भी कष्ट दिए गए बताए जाते हैं, उन्हें निर्विकार मन से शांतिपूर्वक सहन किया। प्रह्लाद और मीरांबाई, इन दोनों ने सत्याग्रह का पालन किया।' (संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 17, पृ. 171) डॉ. हाड़ा जो तथ्य प्रस्तुत करते हैं, वे सब इसके एकदम विपरीत हैं। उनके अनुसार 'मीरां का आरंभिक वैवाहिक जीवन कुछ मामूली प्रतिरोधों और दैनंदिन ईर्ष्या-द्वेषों के अलावा कमोबेश सुखी था। उसके अपने पति भोजराज से संबंध सामान्य थे। मीरां की कविता में जिस राणा से तनावपूर्ण संबंध और नाराजगी का बार-बार उल्लेख आता है वह भोजराज नहीं है। भोजराज तो सत्तारूढ़ ही नहीं हुआ और राणा सांगा के जीवित रहते ही उसका निधन हो गया, इसलिए यह संज्ञा

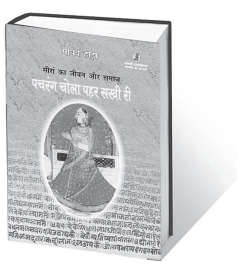

पुस्तक : पचरंग चोला पहर सखी री
लेखक : माधव हाड़ा
प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2015
पृष्ठ : 166
मूल्य : ₹ 375

उससे संबंधित हो ही नहीं सकती। राणा संज्ञा उसने अपने सत्तारूढ़ मूर्ख और छिछोरे देवर विक्रमादित्य (1531-1536) के लिए प्रयुक्त की है।' (पृ. 25)

प्रसंगवश जान लेना आवश्यक है कि यह वही राणा सांगा थे जिनका खानवा में बाबर से युद्ध हुआ था और इन्हीं की अट्ठाइस पत्नियों से पैदा हुए सात पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र भोजराज के साथ मीरां का विवाह हुआ था। यह भोजराज अपने पिता राणा सांगा के जीवन काल में ही स्वर्गवासी हो गया। फिर उसके बाद राणा सांगा का दूसरा बेटा रत्न सिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा लेकिन उसका भी अल्प समय में निधन हो गया। तत्पश्चात सांगा का तीसरा बेटा विक्रमादित्य मेवाड़ का शासक बना और उसने राणा संज्ञा धारण की। यह विक्रमादित्य दुष्ट प्रकृति का था और इसी ने विधवा मीरांबाई को प्रताडित भी किया। मीरां जिस राणा को विष का प्याला भेजनेवाला बताती है वह यही विक्रमादित्य था न कि मीरां के पति भोजराज थे। विक्रमादित्य के मरने के बाद राणा सांगा के चौथे पुत्र उदय सिंह मेवाड़ के शासक बने जिन्होंने उदयपुर शहर बसाया। इन्हीं उदय सिंह के पुत्र विख्यात महाराणा प्रताप हुए जिन्होंने अकबरी सल्तनत से लोहा लिया था यानी मीरां रिश्ते में महराणा प्रताप की दादी हुई।

यह समझना कि विधवा हो जाने के बाद मीरां सर्वथा असहाय, निराश्रित हो गई, सही नहीं है। वस्तुतः उस समय के सामाजिक रिवाजों के मुताबिक मीरां को भी अपने मायके तथा ससुराल से अपने भरण-पोषण के लिए पर्याप्त जायदाद प्राप्त थी जिनकी बदौलत वह साधु-संतों का आवभगत तथा भंडारा किया करती थी। डॉ. हाड़ा इस संबंध में उपयोगी जानकारी देते हैं-'विवाहोपरांत मीरां सर्वथा असहाय और असुरक्षित नहीं थी। उसके आर्थिक स्वावलंबन का प्रबंध था और उसे कुछ हद तक पारंपरिक सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त थी। सामंतों की बहन-बेटियों को विवाह में दहेज के रूप में पर्याप्त स्त्रीधन दिया जाता था, जो विवाहोपरांत उनकी निजी संपत्ति की तरह रहता था। मीरां को भी परंपरानुसार उसके पीहर पक्ष से पर्याप्त स्त्रीधन मिला था। सामंत अपनी पत्नियों और बहू-बेटियों को परंपरा के अनुसार आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाते थे। उन्हें जागीरें दी जाती थीं। इनके प्रबंध और आय-व्यय का हिसाब-किताब सामंत स्त्रियां स्वतंत्र रूप से अपने कामगारों के माध्यम से करती थीं। इनमें सामंत अकारण हस्तक्षेप नहीं करते थे। महाराणा सांगा ने अपनी पुत्रवधू के आर्थिक स्वावलंबन के व्यापक प्रबंध किए थे।

नाना इतिहास-ग्रंथों, जनश्रुतियों, लोक-आख्यानों का गहन मंथन, अवगाहन करते हुए माधव हाड़ा इस तथ्य से अवगत कराते हैं कि मीरां महज एक असहाय, निस्तेज, दुख की मारी, करुणा विगलित, 'अबला जीवन, आंचल में दूध और आँखों में पानी' जैसी उक्तियों को चरितार्थ करनेवाली नारी नहीं थी, बल्कि उसके एक दर्प का तेज था, स्वाभिमान का ताप था और थी भक्ति की स्निग्धता।

उसे विवाहोपरांत मेवाड़ के पुर और मांडल के परगने हाथ खर्च के लिए जागीर के रूप में दिए थे।' (पृ. 29) ये तथ्य जहां मीरां के आर्थिक स्वावलंबन के प्रमाण हैं, वहीं आज के स्त्रीवादियों के इस आरोप का भी खंडन है कि सामंती समाज में स्त्रियां दासी मात्र थीं, उन्हें कोई आर्थिक एवं पारिवारिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

मीरां का दांपत्य-जीवन बहुत अल्प अवधि का रहा। विवाह के पांच-छः वर्षों के बाद ही उसके जीवन में वैधव्य आ धमका। इस वैधव्य से उपजे अवसाद को मीरां ने कृष्णभक्ति में सम्मजित कर दिया। चूंकि उनके लिखे भजनों की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी, इसलिए बहुत सारे साधु-संत उसके यहां आने लगे थे जो उनके देवर राणा विक्रमादित्य को पसंद नहीं था। दूसरे कि मेवाड़ तथा उसके पीहर मेड़ता में राजसत्ता के लिए राजपरिवारों में इतनी षड्यंत्रकारी, ओछी गतिविधियां चलती थीं जो मीरां के आध्यात्मिक चित्त को अशांत करनेवाली थीं। इससे ऊबकर मीरां पर्याप्त आर्थिक स्वावलंबन होने के बावजूद शांति की तलाश में वृंदावन चली गई। लेकिन वहां पर भी जब मनोनुकूल माहौल नहीं मिला, तो वह द्वारिका चली गई जहां से फिर वह कभी नहीं लौटी। मेड़ता-मेवाड़ से वृंदावन तथा द्वारिका तक की मीरां की जीवन-यात्रा के पीछे निस्संदेह उसके राजपरिवारों के उत्पीड़न का बहुत बड़ा हाथ था, लेकिन इसे पूरे लोक-समाज का उत्पीड़न नहीं कहा जा सकता। लोक ने तो मीरां के भजनों को अपने चित्त में बसा कर उसके प्रति काफी आदर सम्मान दिया। यहां तक कि राणा विक्रमादित्य द्वारा मीरां को दिए गए उत्पीड़न की भी लोक ने काफी भर्त्सना की। डॉ. हाड़ा बताते हैं 'लोक अपनी निंदा, भर्त्सना और सराहना को उक्तियों और कहावतों के माध्यम से भी व्यक्त करता था। ऐसे कथन लोक में ओखाणे कहलाते थे। ऐसे ओखाणे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सदियों तक चलते रहते थे। मीरां को प्रताड़ित और परेशान करने में सहयोगी और षड्यंत्रकारी एक विजयवर्गीय महाजन, एक गुर्जर गौड़ और एक दाहिमा जाति के ब्राह्मण के अपराध के लिए सदियों तक लोक ने निंदा की और भर्त्सना एक ओखाणे से की और यह भी चला दिया कि मीरां के श्राप के कारण ही विजयवर्गीय महाजनों की वंश वृद्धि रुक गई।' (पृ. 92) जाहिर है कि मीरां को भले ही राणा विक्रमादित्य और उसके दो-चार सहयोगियों ने प्रताड़ित परेशान किया हो, लेकिन पूरे लोक ने मीरां का आदर-सम्मान ही किया। लोक के साथ-साथ राजपरिवार ने भी मीरां को सम्मान दिया। विक्रमादित्य के बाद उसका सौतेला भाई जब उदय सिंह मेवाड़ का शासक बना तो उसने अपनी भाभी मीरां को द्वारिका से बुला लाने के लिए कुछ ब्राह्मणों को भेजा था, लेकिन खुद मीरां ने मेवाड़ वापस आने से इनकार कर दिया और वहीं पर कृष्ण की मूर्ति में लीन हो गई या जल-समाधि ले ली। लेकिन उनकी कविताएं लोक-मन में बसती गईं। अतएव कुछेक स्त्रीवादी विमर्शकारों द्वारा पूरे पुरुष समाज को मीरां को प्रताड़ित करने का अपराधी सिद्ध करना और पुरुष-वर्चस्व का शोक-गीत गाते रहना पूर्णतः सही नहीं है।

मीरां के संबंध में यह धारणा भी काफी प्रचलित है कि वे निर्गुण संत कवि रैदास की शिष्या थीं। इस धारणा का आधार मीरां की

उन कविताओं का अंतः साक्ष्य है जहां वे रैदास का बार-बार गुरु के रूप में सादर स्मरण करती हैं। लेकिन इस पुस्तक मे प्रस्तुत तथ्यों के आलोक में यह धारणा भ्रामक सिद्ध होती है। यह लगभग सर्वमान्य है कि रैदास रामानंद के शिष्य और कबीर के समकालीन संत-भक्त थे। उनका जन्म 1376 ई० और निधन 1506 ई. में अनुमानित है। अगर मीरां का जन्म 1498 ई. का माना जाए, तो फिर उनका रैदास का सीधे-सीधे शिष्या होना तथ्याधारित नहीं लगता। इस संबंध में डॉ. हाड़ा का यह मंतव्य गौरतलब है-'मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के दौरान जनसाधारण सभी तरह के संत-भक्तों का सम्मान करता था और उनसे प्रभावित होने पर उनके प्रति अनौपचारिक गुरुभाव रखता था। इस आंदोलन में कई संत-भक्त निम्न जातियों से थे। आरंभिक कुछ अंतर्बाधाओं के हट जाने के बाद वे स्वीकार्य और सम्मानित हो जाते थे तो उनसे मेलजोल की वर्जनाएं नहीं रहती थीं। राजस्थान के मेवाड़-मारवाड़ में ऐसे कई संत हुए जिनका जनसाधारण और सामंत समाज में सम्मान और स्वीकार्यता थी। झाली रानी के रैदास से औपचारिक दीक्षा लेने के प्रकरण से सिद्ध है कि संभवतया मीरां झाली रानी रतनकंवर से घनिष्ठता और संपर्क के कारण रैदास से प्रभावित रही होगी और इस कारण उसके मन में उनके प्रति अनौपचारिक गुरुभाव रहा होगा। एक सामंत स्त्री और एक निम्न जाति के संत के बीच का यह संबंध जन भावनाओं और आकांक्षाओं के अनुसार था, इसलिए खूब प्रचारित हुआ। इसको लेकर जनसाधारण ने कई कहानियां गढ़ी और उनको भजनों में गूंथ कर खूब गाया।' (पृ. 37)

इससे स्पष्ट है कि मेवाड़ के राजमहल में झाली रानी, जो उसकी ददिया सास थी जिन्होंने रैदास से औपचारिक दीक्षा ली थी, के संपर्क एवं प्रभाव में आकर मीरां ने गुरु परंपरा में रैदास को अपना अनौपचारिक गुरु मान लिया हो किंतु इतना तो साफ है कि उस काल के सामंती समाज में ऊंच-नीच, छूत-अछूत जैसे जितने भी विभेद रहे हों, फिर भी उसमें एक उदार एवं प्रगतिशील धारा भी प्रवाहमान थी जिसके अंतर्गत भक्ति और कविता की गुणवत्ता इन विभेदों को ध्वस्त कर देती थी और निम्न जाति में पैदा होने के बावजूद रैदास जैसे संत-भक्त इस सामंती समाज में सम्मान और स्वीकार्यता प्राप्त कर लेते थे। मध्यकालीन समाज के इस अंतर्विरोधी सत्य की तरफ हमारे आज के अस्मितावादी विमर्शकारों को जरूर ध्यान देना चाहिए।

मीरां की कविताओं का महत्व अधिकतर कृष्ण भक्ति के चश्में से ही आंका जाता रहा है। लेकिन डॉ. हाड़ा उनकी कविताओं के संबंध में यह तथ्य भी उद्घाटित करते हैं कि उनकी कविताओं में केवल भक्ति का ही रंग नहीं है, बल्कि उसमें पारिवारिक, सामाजिक जीवन के भी चित्र हैं, उसमें राजसत्ता के निरंकुश चरित्र के विरोध के तीखे स्वर भी हैं। इस दृष्टि से मीरां के काव्य का महत्व कबीर आदि निर्गुनिया भक्त कवियों के काव्य से भी अधिक हो जाता है, क्योंकि इन निर्गुनिया कवियों में सामाजिक विषमता का विरोध तो है, किंतु वे राजनीतिक व्यवस्था के मुद्दे पर चुप हैं। इस लिहाज से डॉ. हाड़ा मीरां को कबीर आदि से ऊंचा स्थान देते हुए कहते हैं-'मध्यकालीन संत-भक्तों की भी जन्मांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद में असंदिग्ध और गहरी आस्था थी, इसलिए उनकी कविता में उनके अपने समय की सामंतवादी व्यवस्था के स्वार्थपूर्ण हित संबंधों के प्रति असंतोष और नाराजगी का भाव लगभग नहीं के बराबर है। कबीर आदि संत कवि अपने समतावादी विचारों से कुछ हद तक इससे असहमत लगते हैं, अन्यथा सगुण भक्ति परंपरा में तो इस तरह की चेतना बहुत कम है। मीरां की कविता इस मामले में बहुत अलग और असाधारण है। वह सामंती व्यवस्था के धर्म, दर्शन और लोक द्वारा मान्य स्वार्थपूर्ण हित संबंधों को सीधे चुनौती देती है। इनको लेकर इसमें गहरा और उग्र असंतोष और मुखर विद्रोह है। मीरां की कविता इस मामले में कुछ हद तक कबीर से भी आगे है। कबीर व्यवस्था को चुनौती देते हैं, जबकि मीरां एक साक्षात और जीवित शत्रु से लोहा लेती दिखती है। उसका विद्रोह उस राज, धर्म और लोकसत्ता के विरुद्ध है जो शत्रु के रूप में उसके सामने, उसके समय में और उसके स्थान पर है। सत्ता को ललकारने का उसका स्वर अकसर बहुत उग्र और चुनौतीपूर्ण है।' (पृ. 128)

डॉ. हाड़ा ने बहुत परिश्रम करके शोधपरक ढंग से 'पचरंगी चोला...' तैयार किया है। यह पुस्तक न केवल मीरां के संबंध में, बल्कि मीरांकालीन समाज में विद्यमान रहे स्त्री-पुरुष संबंध, वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, सवर्णवाद आदि के बारे में भी सही जानकारी के गवाक्ष खोलती है। मध्यकाल के समय और समाज को सही-सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिहाज से यह एक अत्यंत आवश्यक और उपयोगी पुस्तक है जिसे पढ़कर हमारे आज के अस्मितावादी विमर्शकार अनेक भ्रांत धारणाओं के जंजाल से मुक्त हो सकेंगे।

यह पुस्तक महज 166 पृष्ठों की है जिससे इसे वृहद आकार का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस लघुकाय गागर में डॉ. हाड़ा ने सागर भरने का उद्यम किया है। इससे मीरां की जो छवि सामने आती है वह पचरंगी यानी बहुरंगी चोलावाली मीरां की है। यह पंचरंगी चोला...' सिद्ध करती है कि मीरां का व्यक्तित्व केवल गलदश्रु भावुकता वाली कृष्ण भक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें रूढ़ियों एवं राजसत्ता के घिनौने कृत्यों का विरोध करने का भी अपार साहस था। उसके इस साहस को कृष्णभक्ति यानी ईश्वरीय आस्था ने बल प्रदान किया, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

इस पुस्तक का महत्व मीरां के व्यक्तित्व निरूपण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मीरां से संबद्ध अनेक आख्यानों, कथाओं और जनश्रुतियों की पड़ताल करते हुए डॉ. हाड़ा ने उस समय के समाज का यथार्थपरक चित्र भी प्रस्तुत किया है जो कई भ्रांतियों का निराकरण करता है। मसलन, आधुनिकता की आंधी में स्त्रीवादी विमर्श ने यह शोर मचा रखा है कि मध्यकालीन पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष वर्चस्व ने स्त्रियों को दोयम दर्जा दे रखा था, उन्हें जायदाद-संपत्ति के अधिकारों से वंचित कर दासी तुल्य बनाकर रखा था। विधवा-पुनर्विवाह वर्जित था। फिर हर स्त्री पति के मरने पर सती होने को बाध्य थी। यह बात पूरी तरह से सही नहीं है। डॉ. हाड़ा बताते हैं कि 'मीरां के समय के सती, वैधव्य, सुहाग आदि विधानों के संबंध में स्त्री विमर्शकारों की निर्भरता तत्कालीन समाज पर कम, ब्राह्मण शास्त्रों पर ज्यादा है। मीरां की व्यापक लोक स्वीकृति और मान्यता ही इस बात का पर्याप्त सबूत है कि यह समाज अन्याय के प्रतिकार का सम्मान भी करता था और इस प्रतिकार के लिए जरूरी खाद-पानी भी मुहैया करवाता था। मीरां को अन्याय के प्रतिकार और अपनी शर्तों पर जीवनयापन का साहस और सुविधाएं इस समाज ने ही दी थीं।' (पृ. 61)

इसी प्रकार पति के मरने पर हर विधवा का सती होना भी बाध्यकारी रिवाज नहीं था। इसका सबसे बड़ा खंडन तो खुद मीरां ही हैं जो पति के मर जाने पर सती नहीं हुई। जहां तक संपत्ति संबंधी या अन्य पारिवारिक मामलों में अधिकारों का सवाल है, वे भी स्त्रियों को प्राप्त थे-'यह कहना कि वे केवल पुरुषों की संपत्ति थीं, उनका केवल शोषण और उत्पीड़न होता था और उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे, पूरी तरह सही नहीं है। कुछ हद तक ऐसा भी होता था, लेकिन इसके साथ इस समाज में उनके सम्मान, सुख और संरक्षण की चिंताएं भी थीं। यही नहीं, इस दौरान, स्त्रियां प्रभावकारी ढंग से सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप भी करती थीं और कुछ हद तक उन्हें जीवन की स्वतंत्रता भी थी।' (पृ. 78)

इसी प्रकार विधवा पुनर्विवाह के संबंध में यह तथ्य था कि 'वर्ण-व्यवस्था के ब्राह्मण आदर्श में विधवाओं का विवाह निषिद्ध था, लेकिन यह 'चाल चलगत' व्यवहार में पूरी तरह कभी नहीं आया। मध्यकाल और उससे पहले यहां शिल्पी, कृषक, शूद्र और आदिवासी जातियों में तो विधवा विवाह आम थे और सोपान-क्रम की उच्च जातियों में भी ये पूरी तरह निषिद्ध नहीं थे।' (पृ. 73)

इस तथ्य की तरफ भी डॉ. हाड़ा ने ध्यान आकृष्ट किया है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था ठहरी हुई नहीं थी, बल्कि गतिशील थी-'मीरांकालीन समाज में धार्मिक और सांप्रदायिक गतिशीलता से भी वर्ण और जातीय गतिशीलता बढ़ी। पहले जैन, बौद्ध और इस्लाम और मध्यकाल में भक्ति आंदोलन से यहां वर्ण मिश्रण और जाति परिवर्तन हुआ।' (पृ. वही) वस्तुतः भारत में जाति-व्यवस्था को कठोर सांचे में ढालने का काम पहली बार औपनिवेशिक शासन के दौरान अंग्रेजों ने 1891 ई. में मरदुमशुमारी रिपोर्ट के जरिए किया। इस तथ्य को धर्मपाल, भालचंद नेमाडे जैसे विद्वानों ने भी अपने गवेषणात्मक लेखन में प्रमाणित किया है।

'पचरंग चोला पहर सखी री' पुस्तक का महत्व मीरां के व्यक्तित्व निरूपण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मीरां से संबद्ध अनेक आख्यानों, कथाओं और जनश्रुतियों की पड़ताल करते हुए डॉ. हाड़ा ने उस समय के समाज का यथार्थपरक चित्र भी प्रस्तुत किया है जो कई भ्रांतियों का निराकरण करता है। मीरां की कविता कुछ हद तक कबीर से भी आगे है। कबीर व्यवस्था को चुनौती देते हैं, जबकि मीरां एक साक्षात और जीवित शत्रु से लोहा लेती दिखती है। उसका विद्रोह उस राज, धर्म और लोकसत्ता के विरुद्ध है जो शत्रु के रूप में उसके सामने, उसके समय में और उसके स्थान पर है। सत्ता को ललकारने का उसका स्वर अकसर बहुत उग्र और चुनौतीपूर्ण है।

वस्तुतः डॉ. हाड़ा ने बहुत परिश्रम करके शोधपरक ढंग से इस पुस्तक को तैयार किया है। यह पुस्तक न केवल मीरां के संबंध में, बल्कि मीरांकालीन समाज में विद्यमान रहे स्त्री-पुरुष संबंध, वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, सवर्णवाद आदि के बारे में भी सही जानकारी के गवाक्ष खोलती है। मध्यकाल के समय और समाज को सही-सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिहाज से यह एक अत्यंत आवश्यक और उपयोगी पुस्तक है जिसे पढ़कर हमारे आज के अस्मितावादी विमर्शकार अनेक भ्रांत धारणाओं के जंजाल से मुक्त हो सकेंगे।

प्रकाशकों से निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एक अरसे से 'पुस्तक-वार्ता' का प्रकाशन कर रहा है। हिंदी में प्रकाशित हो रही साहित्यिक पत्रिकाओं में 'पुस्तक-वार्ता' इकलौती पत्रिका है जो कि पूर्ण रूप से पुस्तक समीक्षा विधा को समर्पित है। यह पत्रिका साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकाशित नयी पुस्तकों की समीक्षा प्रतिष्ठित आलोचकों - समीक्षकों से करवाकर प्रकाशित करती है और उसे पाठकों तक पहुंचाने के लिए एक सेतु का काम करती है। आप सुधी प्रकाशकों और सभी लेखक बंधुओं से अपनी नई पुस्तकों की दो प्रतियां निम्न पते पर भिजवाने का अनुरोध है-

संपादक 'पुस्तक-वार्ता'
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट- गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

प्यास का जायका पानी की तरह होता है

विनोद तिवारी

कवि- आलोचक

संपर्क :
सी-4/604,
ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5
वसुंधरा
गाजियाबाद-201012
(उ.प्र.)
मो. 9560236569

'पानी पर पटकथा' पुस्तक को जब आप पढ़ना शुरू करेंगे तो आपको इस बात का एहसास होगा कि पानी पर लिखना पानी पीटना नहीं होता बल्कि यहां लिखे हुए हर हर्फ का एक मआनी है क्योंकि, लेखक खुद एक किसान है, एक जागरूक नागरिक है। जिस जमीन, जिस भाषा और जिस भूगोल का वह रहवासी है, उसके पूरे मन-मिजाज को कवि-सुलभ संवेदना और मर्म के साथ वह जीता है इसलिए, मुहावरे में नहीं बल्कि मुहावरे को सिद्ध करने वाले लोक-जीवन में वह रचा-पगा है। उसे पता है कि समस्त प्राणियों से ही नहीं, प्रकृति से भी सखाभाव मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिए।

'इन लोगों में रहने से हम बेघर अच्छे थे/कुछ दिन पहले तक तो सबके तेवर अच्छे थे' जैसी मशहूर गजल लिखने वाले पाकिस्तानी शायर फैसल अजमी की एक गजल है, जिसका मतला है 'हर्फ अपने ही मआनी की तरह होता है/प्यास का जाइका पानी की तरह होता है'। हिंदी के मशहूर कवि और विरल गद्यकार अष्टभुजा शुक्ल की अभी हाल ही में (2018 में) आई ललित निबंधों की अद्भुत पुस्तक 'पानी पर पटकथा' को पढ़ते हुए अचानक फैसल अजमी के उक्त शेर की याद ताजा हो गई। 'पानी पर पटकथा' बेशक हिंदी गद्य रचना या लेखक का पद प्रयोग करें तो 'गद्याचार' की अनोखी किताब है। इसके पहले 'मीठउआ' के सरस-सलिल मीठे गद्य के स्वाद से जो लोग परिचित हैं वे इस बात की तस्दीक करेंगे कि हिंदी में ललित गद्य लिखने की जो दाग-बेल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने डाली थी उसे अष्टभुजा शुक्ल ने सूखने नहीं दिया है बल्कि उसके मूल में लगातार खाद-पानी डालकर उसके 'पानीपन' को बचाए हुए हैं। 'पानी पर पटकथा' के निबंध इसके नायाब उदाहरण हैं। अष्टभुजा शुक्ल भले ही लिखते हों कि - 'हवा में मुक्का मारने पर लिखा जा चुका है, आसमां में सुराख करने पर लिखा जा चुका है, हथेली पर बाल उगाने पर लिखा जा चुका है, समय की शिला पर लिखने के प्रयास किए जा चुके हैं, बिना लिखे ही कोरे कागज को प्रिय के पास प्रेषित करने की भी परंपरा रही है, लेकिन हा! हंत आज मुझे पानी पर लिखना पड़ रहा है। उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए लिखने को तो पानी पर भी लिखा जा सकता है, लेकिन यदि पानी ही कागज, बोर्ड या कैनवास हो तो आप अलबेले से अलबेले लेखक की विवशता को समझ सकते हैं। फिर चाहे गुरुमुखी का ज्ञाता हो या ब्राह्मी का, खरोष्ठी में पारंगत हो या देवनागरी में, रोमन में धाराप्रवाह लिखता हो या फारसी में, आशुलिपि वाला हो या टंकणवाला, कंप्यूटरवाला हो या इंटरनेटवाला अथवा पुरानी मान्यताओं के सुर तरुवर शाखा लेखनी और सात समुद्रों की मसि बनाने वाले लेखक ही क्यों न रहे हों, इस पानी पर कोई भी लिपि टिक नहीं सकती। अंततः इस पानी पर लिखना पानी पीटना ही साबित होगा।' - पर, नहीं 'पानी पर पटकथा' पुस्तक को जब आप पढ़ना शुरू करेंगे तो आपको इस बात का एहसास होगा कि पानी पर लिखना पानी पीटना नहीं होता बल्कि यहां लिखे हुए हर हर्फ का एक मआनी है क्योंकि, लेखक खुद एक किसान है, एक जागरूक नागरिक है। जिस जमीन, जिस भाषा और जिस भूगोल का वह रहवासी है, उसके पूरे मन-मिजाज को कवि-सुलभ संवेदना और मर्म के साथ वह जीता है इसलिए, मुहावरे में नहीं बल्कि मुहावरे को सिद्ध करने वाले लोक-जीवन में वह रचा-पगा है। उसे पता है कि 'पानी की मूल प्रकृति सदैव ऊपर से नीचे की ओर बहने वाली होती है। आशय यह कि पानी सदैव मूल में ही रहने के लिए व्याकुल रहता है। जिसके मूल में यह पानी रहता है, वह हारा-भरा और पल्लवित-पुष्पित होता है, परंतु जिसके सिर के ऊपर चला जाता उसका सूखना तय है। यदि हमें जीवन के अस्तित्व को बचाना है तो प्रकृति के प्रति स्वामीभाव नहीं, बल्कि सखाभाव अपनाना होगा।' समस्त प्राणियों से ही नहीं, प्रकृति से भी सखाभाव मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिए, इसे एक कवि से बेहतर कौन जान सकता है। एक कवि जब मानव-सभ्यता के संकटापन्न होते जाने के मूल मर्म को समझते हुए संवेदना-विकल होकर अपने समय-समाज की मूल समस्याओं पर व्यक्त होता है तो उस अभिव्यक्ति में- गद्य की संवेदनात्मक विकलता, मार्मिक तरलता, चिंता और आहत मन-मस्तिष्क की उद्विग्नता जिस तरह से चुटीले व्यंग्य के सहारे बाहर निकाल कर आती है वह देखते बनती है। एक बानगी देखने लायक है- 'अपने

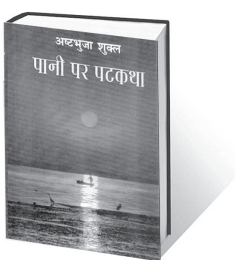

पुस्तक : पानी पर पटकथा
लेखक : अष्टभुजा शुक्ल
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 119
मूल्य : ₹ 240

इस जगदगुरु देश में धर्म और अध्यात्म के लिए जलवायु बड़ी ही अनुकूल है। इस क्षेत्र में सदैव लक्ष्य से अधिक पैदावार होती है। चीनी उद्योग बंद हो रहे हैं, वस्त्र और कागज उद्योग बंद हो रहे हैं किंतु आध्यात्मिक उद्योग लगातार खुल रहे हैं। अध्यात्म के प्रति प्यास जगाने वाले संत-महापुरुष पहले हमारे मन में सारे सांसारिक संबंधों के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा उत्पन्न करके मरुभूमि बनाते हैं और फिर हमारी उत्कट प्यास बुझाने के लिए अपना मिनरल वाटर बेचकर सदा-सदा के लिए हमें साष्टांगी बना लेते हैं ताकि हम जल्द से जल्द ईश्वर को प्यारे हो सकें। ऐसे नए-नए आश्रमवाले संतों से भी सामाजिक पर्यावरण को कम खतरा नहीं। देखने में आता है कि दहेज उन्मूलन, भ्रष्टाचार निरोधक, जाती-पांति विरोध जैसी जितनी ही संस्थाएं दिनों-दिन पंजीकृत हो रही हैं उनसे इन प्रथाओं का और अकुंठ विकास हो रहा है। इस प्रकार अहंकार को दूर करने का प्रशिक्षण देने वाले महात्मा भी कम अहंकारी नहीं। पानी निर्मल और निरहंकार है। निष्कलुष रहना और करना ही उसकी प्रकृति है। अतः जो पानी को प्रदूषित करते हैं वे जीवन को प्रदूषित करने के पापी हैं। जिनकी आँखों का पानी मर चुका है उनके लिए पानी की हत्या पेशेवर कर्म की तरह है। उनके लिए एक ही दंड है और वह है जलसमाधि। जिस मृत सागर का पहले जिक्र हुआ है, कहते हैं कि उसमें कोई डूबता ही नहीं। जो सागर स्वयं मरा है वह दूसरों को क्या डुबोएगा? उसका अपना ही घनत्व इतना अधिक है कि दूसरों को आत्मसात करने के लिए कोई अवकाश नहीं। इसी से उसका पानी अपेय है। जबकि पानी ऐसा पेय है जिसका कोई विकल्प नहीं। न दूध, न चाय, न तेल, न अलकोहल। महाशीतल पेयों की मारकता को तो हम बीते दिनों अपनी आँखों से ही देख चुके हैं। महा से कभी कोई संस्कृति या सभ्यता विकसित नहीं होती चाहे वे महासागर हों या महाठंड और संस्कृति और सभ्यता का सीधा संबंध बहते हुए नीर से है। पानी ठहर जाता है तो जीवन भी ठहर जाता है। जीवन प्रवाह वस्तुतः पानी का प्रवाह है।'

'पानी पर पटकथा' पुस्तक के सभी निबंधों - सूरज डूब गया है, तितली के पीछे मौत, गेंद पर यो कालिय-दह जाई, टूटे फूटे शब्दों में, बंगाले से गंगाजल, देवि! पूजि पद-कमल तुम्हारे, उस काशी को किससे उपमूं, दीयों की रात, दिक्क और काल के बीच, आस्था के उपद्रव आदि - में मारक व्यंजकता से भरपूर मन की मौज के साथ अपने परिवेश पर एक सधी हुई सचेत समकालीन दृष्टि है जो इन निबंधों की ताकत है। इन निबंधों के

ललित निबंधों की एक खास विशेषता आचार्यों ने यह बताई है कि वे व्यक्तिव्यंजक अथवा आत्मव्यंजक होते हैं, उस दृष्टि से भी उक्त सभी निबंधों में, कहीं प्राकारांतर से तो कहीं सीधे अर्थों में आत्मव्यंजकता के गुण पदे-पदे मौजूद हैं। बंगाले से गंगाजल, देवि! पूजि पद-कमल तुम्हारे, उस काशी को किससे उपमूं और आस्था के उपद्रव जैसे निबंधों में तो अष्टभुजा शुक्ल सबसे अधिक अपने खांटी रूप में मौजूद होते हैं।

अलावा पुस्तक में प्रभाष जोशी, चंद्रबली सिंह और परमानंद श्रीवास्तव के निधन पर लिखे गए स्मृति-लेख अपनी तरल आत्मीयता और सांद्र संवेदना के चलते अत्यंत ही पठनीय हैं। इनको पढ़ने के बाद मेरी भी इच्छा होती है कि अष्टभुजा शुक्ल के जीते जी मैं भी मर जाऊं। 'सूरज डूब गया' निबंध समसामयिक सांस्कृतिक और राजनीतिक कुचक्रों और प्रपंचों पर व्यंग्यात्मक शैली में अत्यंत ही तीखी आलोचना है। डूबते सूरज का बिंब एक प्रतीक है। निबंध में मम्मट के हवाले से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को समझाने के लिए लेखक ने महाभारत के एक प्रसंग - 'गृध्रगोमायु संवाद' का उल्लेख किया है। इस कथा में एक परिजन अपने मृत बच्चे को लेकर श्मशान पहुंचता है। सूरज के डूबने में कुछ ही वक्त बाकी है। गिद्ध और सियार दोनों ही बच्चे की लोथ नोचने की ताक में है अतः अपने स्वार्थ के चलते दोनों ही सूरज के डूबने और लाश के जलाने न जलाने की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं। लेखक ने इस कथा को उठाकर सीधे वर्तमान राजनीतिक वातावरण से जोड़ दिया है। वह लिखता है - 'इसी पचड़े को शायद लाशों की राजनीति करना कहते हैं। जाने क्यों ऐसा लगता है कि हमारे यहां का लोकतंत्र मृत बच्चे के समान है। समता, धर्म निरपेक्षता, स्वतंत्रता, संप्रभुता आदि की तीसरी कसम खानेवाला यह पक्ष या वह पक्ष, गिद्ध अथवा सियार है, जिसकी निगाह में देश की बोटी है। और परिजन हैं हतबुद्धि सामान्य नागरिक जो सिर्फ मतदान करने के लिए नागरिक हैं। जिन्हें हर हाल में राष्ट्रगान गाना है। अशोक स्तंभ को सिंह मानकर स्वयमेव मृगेंद्रता को अनुभव करते जाना है। राष्ट्रीय पक्षी को देखकर पंख फैलाए नाचना है। राष्ट्रीय पुष्प को देखकर खिले-खिले रहना है और भाग्यविधाता का सिरमटकउअल सहना है। इस पर किसी को कुछ कहना है? स्वागत है। गांधीनगर से नौ साल की नफीसा सिसक-सिसककर अपनी अम्मी और अब्बू की कब्र के लिए जगह मांग रही है, मुंबई से भागलपुर भागने के लिए दीनानाथ पहली गाड़ी का समय जानना चाहते हैं, नंदीग्राम के ढोंढाई पुलिस की गोली का वास्तुविज्ञान जानना चाहते हैं, कालाहांडी के कृष्णप्रसाद रोटी का स्वाद पूछ रहे हैं, हैदराबाद की सानिया का सवाल है कि किस देश का आदमी कपड़े पहनकर पैदा होता है?' लेखक इसके तुरंत बाद कहता है कि ये सभी सवाल वास्तविक हैं, लेकिन सभी नाम काल्पनिक। मैं भी पाठकों से पूछना चाह रहा हूं, बल्कि कहना चाह रहा हूं कि क्या, सचमुच ये सारे सवाल हमारे समय के वास्तविक सवाल नहीं हैं? परंपरा और आधुनिकता का ऐसा समकालीन मेल कम ही साहित्यकारों में देखने को मिलता है।

अष्टभुजा शुक्ल लोक और शास्त्र दोनों को जीने वाले रचनाकार हैं। परंपरा और आधुनिकता का अत्यंत ही प्रीतिकर मेल उनके लेखन में मिलता है। आधुनिक शास्त्र के वे देशज शास्ता हैं। अतीत और वर्तमान को समकालीन बोध के साथ पढ़ने वाले अध्येता हैं, इसीलिए भविष्य की भी एक सजग कल्पना कर लेने वाले कवि हैं। उनका स्पष्ट तौर पर मानना है कि 'जो लोग वर्तमान को अतीत का जीरॉक्स समझते हैं वे संसार को पत्थर और अस्थियों का संग्रहालय बनाना चाहते हैं और प्रेतबाधा से ग्रस्त मानसिकता के होते हैं तथा जो वर्तमान को भविष्य काल के आधार पर चलाना चाहते हैं; वे जीवन से अधिक बेजान नक्षत्रों के अंधविश्वासी होते हैं। सचाई यह है कि जो अपने वर्तमान में नहीं होता वह न तो अपने अतीत से आया हुआ लगता है और न भविष्य में उसकी कोई राह बनती है।' यह बात कह कौन रहा है? जब आप जानेंगे कि संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन करने वाला एक अध्यापक यह बात कह रहा है तो संस्कृत भाषा और उसके ढेर सारे अध्यापकों पंडितों की अनेकानेक छवियां आपके मन में उभरेंगी, जिनके अक्स

में आपके मन में संस्कृत की एक पहचान जड़ जमा चुकी है। लोक और शास्त्र को जिस समकालीन-बोध से अष्टभुजा शुक्ल उद्धृत करते हैं वह इस नाते महत्वपूर्ण है कि उसमें किसी तरह का महिमामंडन या भाव-विह्वल गौरव गान नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक, चेतना संपन्न सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि मिलती है, जिसका पहला और आखिरी लक्ष्य मनुष्य है - उसका मूल्य, उसकी मर्यादा और उसका श्रम है। पुस्तक में एक निबंध है 'आस्था के उपद्रव'। इस निबंध में निबंधकार ने जिस मर्माहत भावना से रोज-ब-रोज धार्मिक कर्मकांडों और कुरीतियों के चलन और उस पर आस्था से अधिक अंधविश्वास की ढाल के नीचे किए जाने वाले उपद्रवों के चलते सामान्य नागरिक जीवन के अस्त-व्यस्त, स्थगित और पीड़ित-प्रताड़ित होने को प्रस्तुत किया है वह हमारे समय का एक नंगा सच है। लेखक बस्ती से किसी काम के चलते गोरखपुर आता है। दिन भर में अपना काम निपटाकर उसे शाम को वापस घर लौटना है। गोरखपुर वैसे तो बस्ती का पड़ोसी महानगर है। कभी बस्ती जिला गोरखपुर का ही हिस्सा हुआ करता था इसलिए गोरखपुर जाना-आना किसी बड़ी तैयारी और चिंता की मांग नहीं करता। लेखक का गोरखपुर आना-जाना तो लगा ही रहता है। गोरखपुर में उसके बहुत सारे मित्र हैं। इन मित्रों के अलग-अलग ब्रांड हैंः मधु छाप, कपास छाप, बरगद छाप, बंदर छाप, शीतल जल छाप, तेल छाप, गोबर गणेश छाप, उमा महेश छाप इत्यादि। लेखक मौज में इन मित्रों के 'ब्रांड' की विशेषता बताते हुए हरेक ब्रांड के चरित का गुणगान करता है। ऐसे वर्णनों में अष्टभुजा शुक्ल की चुटीली भाषा की तेज धार देखते ही बनती है। तो, अपना काम निपटाकर ऐसे ही एक शीतल शीतल जल छाप मित्र से मिलकर, विदा लेकर वह बस्ती जाने वाली बस की तलाश में बस स्टाप पर आता है। पर यहां तो चारों ओर सन्नाटा पसरा है। माजरा क्या है? कौन बताएगा? पूछताछ करने पर पता चलता है कि आज पूर्णिमा है और दुगार्पूजा की मूर्तियों के विसर्जन का धार्मिक-कार्य संपन्न हो रहा है इसलिए राजघाट का पूरा रास्ता जाम है अब क्या हो? अब तो रात रेलवे के मुसाफिरखाने में ही किसी तरह गुजारनी होगी यह सोचकर लेखक मुसाफिरखाने की ओर कदम बढ़ा देता है। मुसाफिरखाने का जो चित्र लेखक ने खींचा है वह कम हृदय-विदारक नहीं है। लेखक ने अपने साथ-साथ दूसरों की भी पीड़ा का जो पराजित चित्र खींचा है

अष्टभुजा शुक्ल लोक और शास्त्र दोनों को जीने वाले रचनाकार हैं। परंपरा और आधुनिकता का अत्यंत ही प्रीतिकर मेल उनके लेखन में मिलता है। आधुनिक शास्त्र के वे देशज शास्ता हैं। अतीत और वर्तमान को समकालीन बोध के साथ पढ़ने वाले अध्येता हैं, इसीलिए भविष्य की भी एक सजग कल्पना कर लेने वाले कवि हैं।

और उस पीड़ा से बेखबर बढ़ती धर्मांधता और आस्था के नाम पर कट्टरता का जो वर्णन किया है वह देखने लायक हैः 'प्रदर्शनप्रिय लोगों को ही प्रदर्शन में दिलचस्पी होती है। आजकल उत्सव और भक्ति भी शक्ति, वैभव और उन्माद के लंपट प्रदर्शनों में रूपांतरित होते जा रहे हैं।...भय और भक्ति में क्या कोई परोक्ष संबंध है? संप्रदाय और राजनीति का गठबंधन इस देश और समाज को कहां ले जाएगा? चाहे मोहर्रम के हठधर्मी जुलूस हों या प्रतिमा विसर्जन के जिनसे भी सामान्य जीवन स्थगित हो जाता हो अथवा संकटापन्न-उसके पीछे काम करने वाली शक्तियों का सही विवेचन जनता को जरूर करना चाहिए।'

ललित निबंधों की एक खास विशेषता आचार्यों ने यह बताई है कि वे व्यक्तिव्यंजक अथवा आत्मव्यंजक होते हैं, उस दृष्टि से भी उक्त सभी निबंधों में, कहीं प्रकारांतर से तो कहीं सीधे अर्थों में आत्मव्यंजकता के गुण पदे-पदे मौजूद हैं। बंगाले से गंगाजल, देवि! पूजि पद-कमल तुम्हारे, उस काशी को किससे उपमूं और आस्था के उपद्रव जैसे निबंधों में तो अष्टभुजा शुक्ल सबसे अधिक अपने खांटी रूप में मौजूद होते हैं। इन निबंधों में उनकी भाषा का चमत्कार देखते बनता है। इन निबंधों में वे खूब खुलते-खिलते हैं। फबने वाली चुटकियां लेते हैं। गप्प हांकते हुए कहीं से कहीं का उड़ान भरना, खुशफैल मस्ती में दूसरों की खबर लेने के साथ-साथ अपने राम की भी निंगाझोरी करना, हंसी उड़ाना इन निबंधों का लालित्य है। दुनिया भर में पति-पत्नी का रिश्ता सबसे अधिक 'प्रणय-कलह' वाला होता है। पति यदि कहे कि बेटा हाथ से निकल रहा है तो पत्नी झट कहेगी कि 'तुमसे तो अच्छा ही जा रहा है', पत्नी यदि कहे कि आज कितनी गर्मी है तो पति तुरंत कहेगा कि 'नहीं आज तो मौसम ठंडा है'। पति-पत्नी के संबंध और इस संबंध की प्रकृति व प्रवृत्ति को 'उस काशी को किससे उपमूं' निबंध में किस तरह से अष्टभुजा शुक्ल प्रस्तुत करते हैं, इस उद्धरण से समझा जा सकता है - 'लेकिन इस बार की काशी यात्रा में मुझ अ-शंकर के साथ-साथ साक्षात पार्वती थीं। तुनकमिजाज, बेलौस और जितनी बार पढ़ो उतनी बार नया पाठ। स्त्री-विमर्श के प्रति अतिसंवेदनशील और लवंगलता की तरह रस ले-लेकर सेवन करने वाली यानी कि ठीक वामा। थोड़ा दूर होकर बैठो तो भी 'ठीक से बैठो' और थोड़ा सटकर बैठो तो भी 'ठीक से बैठो' की राजाज्ञा जारी। गंगा की ओर टकटकी लगाओ तो 'उधर क्या इतनी देर से देख रहे हो' और उन्हीं को निहारो तो 'इधर क्या इतनी देर से देख रहे हो'? जागने लगे तो 'नींद' नहीं आ रही है क्या और सोने की कोशिश करो तो 'अभी से चादर तानने की क्या जरूरत?' इस उद्धरण से किसी स्त्री-विमर्शकार को यह लग सकता है कि अष्टभुजा शुक्ल जान-बूझकर स्त्री को अपमानित करने वाली बात कह रहे हैं, उनके लिए बस इतना ही कहूंगा कि उन्हें इसी पुस्तक के एक निबंध 'देवि! पूजि पद-कमल तुम्हारे' जरूर पढ़नी चाहिए। इस पूरी किताब में 'पानी' तरह-तरह से केंद्र में बना हुआ है। कभी अभिधा में तो कभी व्यंजना में तो कभी लक्षणा में। यही इस पुस्तक की उपलब्धि भी है। सियासी नफा-नुकसान के फेर में आज देश का माहौल जिस कदर सांप्रदायिक बना दिया गया है, हिंदुओं के प्रति मुसलमानों में और मुसलमानों के प्रति हिंदुओं में अविश्वास और नफरत का जो जहर घोला गया है उस माहौल के खिलाफ पारस्परिक प्रेम और विश्वास के गाढ़े रस को 'बंगाले से गंगाजल'

शेष पृष्ठ 23 पर

डायरी में समाया जीवन प्रसंगों का लेखा

कुबेर कुमावत

आलोचक

संपर्क :
प्लाट नं. 38, 1762/3
केले नगर, ढेकू रोड
अमलनेर, (महाराष्ट्र)
मो. 9823660903

नरेंद्र मोहन मुख्यतः कवि, नाटककार एवं आलोचक के रूप में परिचित हैं परंतु इधर के कुछ वर्षों में आपने एक डायरीकार के रूप में भी अपने रचनात्मक व्यक्तित्व का नया पहलू हमारे समक्ष रखा है। वर्ष 2018 में तीसरी डायरी 'साहस और डर के बीच' प्रकाशित हुई। इस तीसरी सद्यः प्रकाशित डायरी में वर्ष 2010 से 2017 तक के दीर्घ कालखंड का क्रमशः विवरण और अंकन मिलता है। प्रस्तुत डायरी में डायरीकार के रचनात्मक जीवन के अनेक प्रसंगों, संघर्षों, चुनौतियों, जटिलताओं, मानसिक अवस्थाओं, अंतर्द्वंद्वों, विचार-प्रक्रियायों, यात्राओं, साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकारों, राजनीतिक-सामाजिक हलचलों, मेल-मुलाकातों, चिंताओं, निरीक्षणों आदि का मार्मिक लेखा-जोखा प्रस्तुत है।

हिंदी में डायरी को साहित्यिक विधा के रूप में निरंतर एक नया आयाम और दिशा प्रदान करते जा रहे वर्तमान साहित्यकारों में नरेंद्र मोहन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नरेंद्र मोहन मुख्यतः कवि, नाटककार एवं आलोचक के रूप में हिंदी जगत में परिचित हैं परंतु इधर के कुछ वर्षों में आपने एक डायरीकार के रूप में भी अपने रचनात्मक व्यक्तित्व का नया पहलू हमारे समक्ष रखा है। नरेंद्र मोहन की पहली डायरी 'साथ साथ मेरा साया' शीर्षक से वर्ष 2003 में प्रकाशित हुई। इसके बाद वर्ष 2010 में दूसरी डायरी 'साए से अलग' का प्रकाशन हुआ। वर्ष 2018 में तीसरी डायरी 'साहस और डर के बीच' प्रकाशित हुई। इस तीसरी सद्यः प्रकाशित डायरी में वर्ष 2010 से 2017 तक के दीर्घ कालखंड का क्रमशः विवरण और अंकन मिलता है। प्रस्तुत डायरी में डायरीकार के रचनात्मक जीवन के अनेक प्रसंगों, संघर्षों, चुनौतियों, जटिलताओं, मानसिक अवस्थाओं, अंतर्द्वंद्वों, विचार-प्रक्रियाओं, यात्राओं, साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकारों, राजनीतिक-सामजिक हलचलों, चिंताओं, मेल-मुलाकातों, निरीक्षणों आदि का मार्मिक लेखाजोखा प्रस्तुत है। डायरी लिखना उनके लिए एक जिम्मेदारी से भरा और दायित्वपूर्ण काम है। वे केवल कुछ भी लिखने के लिए डायरी नहीं लिखते। डायरी में यथास्थान उनका आत्मजगत पूर्ण सच्चाई के साथ व्यक्त हुआ है। डायरी लिखना उनके लिए आंतरिक जरूरत का काम है। वे प्रतिदिन तो डायरी नहीं लिखते पर जब भी लिखते हैं तो लगता है खुद से बातें कर रहे हैं। डायरी को लिखना उनके लिए एक पैशन है। एक अलग तरह की अभिव्यक्ति के लिए की गई छटपटाहट है। डायरी में उनका 'निंदर' जो उनकी स्मृतियों का अभिन्न हिस्सा है, यथास्थान प्रकट होता ही है। 23 मार्च 2016 की यह प्रविष्टि देखिए 'कई दिन से सोच रहा था कि लिखना शुरू करूं, लेकिन टालता रहा बहुत लिख पढ़ लिया। तभी अंदर से कोई कोंचता, 'बड़ी-बड़ी बातें करते हो यह कर लिया, वो कर लिया, चमक के साथ चला जाऊं... ये और वो...अरे, लिखे बिना तेरी मुक्ति नहीं है।' वह इस तरह मुझे घेर लेता है कि लिखने के सिवा मेरे लिए कोई रास्ता नहीं रह जाता। आप सोचते होंगे यह कौन आ गया मुझे कोंसने वाला? 'निंदर?' 'हां, वही जो मुझे घेरता रहता है और आज भी मेरे पीछे पड़ा है।'

डायरी लिखना हो या और कुछ लिखना। उनका मानना है कि लिखे हुए का सामना तो करना ही होगा। उसकी कीमत चुकानी होगी। डायरी लिखने की अपनी निजी दृष्टि को उन्होंने इस प्रस्तावना में ही भलीभांति स्पष्ट कर दिया है, 'डायरी को झूठमूठ की समझदारी के खिलाफ सच के पक्ष में खड़ी एक रचना कह सकते हैं, मेरे लिए डायरी लिखना न आत्ममोह है और न आत्मपुष्टि या आत्मतुष्टि। यह अपने से होकर औरों तक जाना है, अपने को लेकर औरों से जोड़ना है। इसमें मेरे साथ मेरा परिवार है, मेरे दोस्त है, मेरा समाज है, मेरी लेखकीय दुनिया है, ऊंची-नीची, उठती-गिरती सांस को बेंधते तनाव है नब्ज की तरह जो दिखती नहीं।' डायरी में उनका आंतरिक और बाह्य जीवन उसकी प्राथमिकताओं के

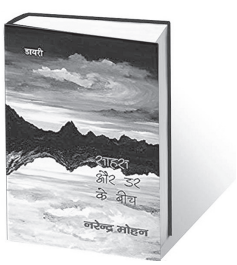

पुस्तक : साहस और डर के बीच
लेखक : नरेंद्र मोहन
प्रकाशक : संभावना प्रकाशन, हापुड़
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 200
मूल्य : ₹ 450

साथ प्रकट हुआ है। जो महत्वपूर्ण नहीं है वह डायरी का हिस्सा बना ही नहीं। वस्तुतः सपाट दिनचर्या को छोड़कर व्यक्तिगत जीवन का जो भी विशिष्ट, अभीष्ट और स्वस्थ है वह डायरी की विषयवस्तु बनते हैं। एक नाटककार के रूप में उनका जीवन संघर्ष, नाटकों के मंचन के समय की कठिनाइयों और विवाद इस डायरी के केंद्र में रहा है। यह विवाद और उससे जुड़ी यातनाओं ने किस तरह उनके रचनात्मक व्यक्तित्व को ऊर्जा प्रदान की इसके विषय में वे 24 फरवरी 2011 की प्रविष्टि में लिखते हैं, 'अगर 2006 में 'मि. जिन्ना' नाटक का मंचन बैन न होता तो शायद 'मंच अंधेरे में' नाटक न लिखा जाता...' प्रदर्शन पर रोक लग जाने से मुझे कलाकारों की जिंदगी में अंशतः ही सही, झांकने का मौका मिला। यह झांकना मुझे उनसे जुड़े कई प्रसंगों और दृश्यों की तरफ ले गया। उनके साथ मेरे भीतर कई प्रसंगों के तंतु जुड़ते गए। तब मुझे लगा नाटकीय अभिव्यक्ति पर बैन के प्रतिरोध में एक रंगमंचीय परिवार की कथा-अंतर्कथा ने मेरे भीतर जन्म ले लिया हो।'

इस डायरी में नरेंद्र मोहन के जीवन की कटु स्मृतियां और व्यथाएं अनेक स्थलों पर दर्ज हुई हैं। साहित्य, समाज, राजनीति, शिक्षा, अध्यापकी, रंगमंच से संबंधित अनेक अनुभव प्रसंग भी डायरी का विषय बने हैं। कई तरह की राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय घटनाओं-प्रसंगों पर विशेष टिप्पणियां यथास्थान डायरी में दर्ज हैं। 17 दिसंबर की डायरी में पेशावर स्कूल पर तालिबानियों का हमला और मासूम बच्चों का क्रूर हत्याकांड डायरीकार को किस तरह झकझोर कर रखता है इसका हृदयविदारक अंकन डायरी में है- 'छह आतंकियों ने पूरे स्कूल में कहर बरपा दिया। हंसते-खेलते बच्चे देखते-देखते लाशों में तब्दील हो गए। जिन मां-बाप ने सुबह बच्चों को तैयार कर स्कूल भेजा, वे ही उनकी लाशें ढूंढ रहे थे। पाकिस्तानी इतिहास में किसी भी स्कूल पर यह सबसे बड़ा आतंकी हमला है। यह वक्त नहीं है कि पाकिस्तान को आतंकवाद या कश्मीर में घुसपैठ के लिए कोसा जाए। यह वक्त है कि सारे भेदभाव भुलाकर इस दुःख और त्रासदी में हम उसके साथ खड़े हों।' आगे डायरीकार ने इसी पृष्ठ पर सोमदत्त की उस कविता का जिक्र किया है जिसमें दूसरे विश्व युद्ध में जर्मन सैनिकों द्वारा किए गए 300 मासूम बच्चों ने नरसंहार का करुण चित्रण है।

विभाजन की घटना ने भी डायरीकार को कम क्लेश नहीं दिया है। स्मृतियों में एक कटु अनुभव के रूप में अंकित यह घटना उनके भीतर के निंदर को हमेशा पीड़ा पहुंचाती है। 'मंटो जिंदा है' और 'मि. जिन्ना' नाटक लिखने के पीछे इस घटना की बड़ी भूमिका रही है और इस प्रकार वे अपनी रचना प्रक्रिया पर भी डायरी में प्रकाश डालते हैं। 15 अगस्त 2015 की प्रविष्टि में वे लिखते हैं, 'आज के दिन मुझे 1947 का अगस्त याद आता है और याद आ जाती है गुलजार की कहानी रावी पार। बंटवारा और मंटो एक के बाद एक याद में टंगे हुए। गुलजार, मंटो और अन्य कई लेखकों की तरह बंटवारा मंटो की रूह में चिपका हुआ है और उस दौर का निंदर उसी त्रासदी से जला-झुलसा आज भी मेरे साथ चल रहा है। मंटो और निंदर की मिलीभगत ने मुझे बुरी तरह हैरान-परेशान किया है मगर वक्त के साथ वे मेरे भीतर कुछ इस तरह बंध गए कि उनसे पार पाना मेरे लिए मुश्किल ही रहा। उस हालत से बाहर आने के लिए मैंने कविताएं लिखी, नाटक लिखे, 'मंटो जिंदा है' जैसी जीवनी लिखी, कई काम किए लेकिन निंदर और मंटो आज भी मेरा पीछा करते हैं।'

डायरीकार के व्यक्तित्व को समझने में भी यह डायरी सहायक है। इसे प्रकाशित करने के साहित्यिक तरीके एवं प्रतिदिन न लिखे जाने और गिने-चुने प्रसंगों को ही स्थान देने के आग्रह के कारण यह डायरी विधा के परंपरागत संरचना से पर्याप्त भिन्न है। इस डायरी को हिंदी की नई सृजनात्मक डायरी परंपरा की उल्लेखनीय डायरी कहा जा सकता है और साहित्यिक डायरी के वर्ग में इसे रखा जा सकता है।

अपनी आत्मकथा 'कमबख्त निंदर' की रचना प्रक्रिया, अवचेतन में बसा निंदर और लिखने के आत्मिक आनंदानुभव पर 13 सितंबर, 2015 की डायरीकार की यह प्रविष्टि देखिए,-'पिछले एक साल से आत्मकथा लिख रहा था। लिखते-लिखते कई जगह रुकता और फिर लिखना शुरू कर देता। एक तरह से अपनी ही खोज थी अपनी तरह से आत्म साक्षात्कार के बराबर लिखते-लिखते छिपे हुए को, खोए हुए को पा लेने की अनुभूति होती। उस अपूर्व से क्षण के सामने होने के आनंद, थ्रिल को बयां करना मुश्किल है...बचपन से ही एक निंदर मेरे सामने आ खड़ा हुआ था मेरे साथ भी, मुझसे अलग भी। आत्मकथा में बचपन की दहशतनाक परिस्थितियों से गुजरते हुए मैंने कभी निंदर को सुबकते देखा, कभी सन्नाटे में डरे हुए और खरोंचों के बावजूद उनसे बाहर आते हुए, मुझे दुलारते हुए। ऐसे अवसरों पर मैंने खुद को खुला छोड़ते देखा उसके सामने। वह मुझे लताड़ता रहा, प्यार भी करता रहा बचपन से जवानी और आज तक वह मेरे साथ चलता रहा है।'

डायरीकार यदि साहित्यकार है तो डायरी में उसकी रचना प्रक्रिया और रचनाधर्मिता पर बात होनी ही चाहिए। अपने क्षेत्र और कार्य को वह डायरी से अलग नहीं कर सकता। दूसरी बात यह कि डायरी केवल जीवन प्रसंगों, घटनाओं और अनुभवों को लिखने की विधा नहीं है। इसमें डायरीकार की मानसिक स्थितियों, अंतर्व्यथाओं, अंतर्द्वंद्वों, आत्मस्वीकृतियों, आत्मालोचनाओं, स्पष्टोक्तियों, सहमति-असहमतियों, निष्कपट भाव एवं बेबाक तरीके से अपने मतों को रखना, अपने परिवेश के प्रति अपनी नाराजगियों और शिकायतों को बगैर किसी के मन को ठेस पहुंचाएं बताना आदि विशेषताओं का एक अलग स्थान होता है। यह तमाम विशेषताएं नरेंद्र मोहन की डायरी में यथास्थान मिलती है। वे कहते भी हैं कि वह डायरी ही क्या जिसमें खुद का सामना, खुद की चीरफाड़ न हो। खुद में सीमित, पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों, आशंकाओं और डर से ग्रसित आदमी न खुद को देख सकता है, न दूसरों को और न समय और परिस्थितियों को। 6 फरवरी, 2014 के दिन लिखी अपने परिवेश के प्रति आक्रोशजन्य पीड़ा से युक्त यह प्रविष्टि बहुत कुछ कह जाती है, 'अकेले में, एकांत में, अपने को छोड़ देता हूं कई बार और इस तरह बीत जाता है समय। खरे-खोटे में फर्क कर सकता हूं पर झूठे-बेईमान, धूर्त, दुमुंहे लोगों के जाल को काटना मेरे लिए मुश्किल ही रहा है। तथाकथित सिद्धांतकारों, चिंतकों, आलोचकों से मिलना मैंने लगभग छोड़ दिया है। जिन लोगों को मैं सहज समझता रहा, वे पोले निकले, थाली के बैंगन-किसी भी तरफ लुढ़क जाने वाले। कैसे जिऊं, क्या करूं? दिल-दिमाग में जो घुमड़ता रहता है, वह मुझे फिर टेबिल पर ला पटकता है और मैं लिखने लगता हूं।'

डायरीकार की अपने आसपास के साधारण-असाधारण लोगों के प्रति निरीक्षणात्मक टिप्पणियां भी कम रोचक नहीं है। परिचित-

अपरिचित लेखको, कवियों, मित्रों, छात्रों, सभा-संगोष्ठियों, सम्मेलनों, कार्यशालाओं, साहित्यिक यात्राओं का विवरण डायरी में उनकी अकादमिक सक्रियता को रेखांकित करता है। अपने कई साथियों के अचानक इस दुनिया से चले जाने पर डायरीकार की संवेदनात्मक और संस्मरणात्मक प्रविष्टियां मित्रों के प्रति सहज लगाव और स्नेह को दर्शाती है, इनमें देवेंद्र इस्सर, एम.आर. धीमान, मदनलाल मधु, महीप सिंह, रवींद्र कालिया, सुमन राजे, इंतजार हुसैन, ओमप्रकाश द्विवेदी, रमेश मेहता आदि के निधन पर डायरीकार की शब्दांजलियां मार्मिक बन पड़ी हैं।

समकालीन कविता विषयक उनकी आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक टिप्पणियां भी डायरी का महत्वपूर्ण हिस्सा कही जा सकती हैं। हिंदी भाषा की हो रही दुर्गति और हिंदी वालों की हीनताग्रंथि पर उनकी बेबाक और निडर टिप्पणी द्रष्टव्य है, 'क्या विडंबना है कि विश्व मंचों पर हिंदी को प्रतिष्ठित करने के लिए हम लालायित हैं मगर अपने ही घर में हिंदी सम्मान के लिए संघर्ष कर रही है।'

डायरीकार एक स्वाभाविक जीवन जीने के पक्षधर हैं। छलकपट और चालाकियों से भरा जीवन न उन्हें अपना पसंद है और न दूसरों का। जीवन के लिए वे दिखावा और नाटकीयता को पसंद नहीं करते। जीवन के प्रति उनके यह विचार और दर्शन अनेक स्थलों पर प्रकट होता है। कई तरह की आत्मस्वीकृतिपरक, आत्मसम्मानपरक और आत्मप्रश्न डायरी को सजीवता प्रदान करते हैं। 30 अगस्त, 2013 को वे अपने से कुछ इस तरह प्रश्न करते हैं, 'मैं वह काम क्यों हाथ में लेता हूं जो विवाद पैदा करते हैं या कर सकते हैं।' इसी तरह यह 15 अगस्त की आत्मसम्मानपरक प्रविष्टि देखिए, 'कभी खुद को गिरते पड़ते और शर्म से गिरते देखा तो कभी ऊँचा उठते और ऊपर चढ़ते हुए भी। कभी उपेक्षा और अवमानना के अंधेरे में, कभी मान्यता और प्रतिष्ठा के उजाले में। कुछ भी करने से पहले हिम्मत की कमी महसूस करता हूं लेकिन जब करने की ठान लेता हूं तो पीछे नहीं हटता। सामने कोई ठग, धूर्त या दुष्ट आ जाए तो उसकी पोल खोलने या उसके विरोध में खड़ा होने में मजा आता है। गुलामी मंजूर नहीं चाहे वह किसी बड़ी पदवी या सम्मान की आड़/एवज में क्यों न हो।' 10 नवंबर के दिन वे अपने बारे में लिखते हैं, 'मैं अपने को कितना जानता हूं? और जितना जानता हूं अपने को उतना जानने का दावा कोई दूसरा कैसे कर सकता है? मेरा जीवन जितना मेरे सामने है, उतना वह किसी दूसरे

डायरी लिखने के बारे में डायरीकार की धारणा एकदम साफ है। वे प्रतिदिन डायरी नहीं लिखते यद्यपि डायरी का प्रतिदिन लिखा जाना आवश्यक समझा जाता है परंतु वे स्पष्ट कहते हैं कि वे रोज डायरी नहीं लिखते। उनका स्पष्ट कथन है कि जीवन का सब कुछ समेटने के चक्कर में डायरी रोजनामचा बन जाती है।

को कैसे दिख सकता है। मैं कितना अच्छा हूं, कितना बुरा हूं, इसे नापा-तौला नहीं जा सकता। मैं जानता हूं मुझमें कई बुराइयां और कमियां हैं और बुराइयों की तरफ इशारा करके मेरा चरित्र-हनन करने वालों और अपना सीना फूलाने वालों की कमी नहीं है। गाल बजाने वाले ऐसे लोगों पर मुझे हंसी आती है।'

डायरी का नितांत आत्मपरक होना आवश्यक है। एक तरह से डायरी में डायरीकार का आत्मविश्लेषण और जीवन का विश्लेषण काफी मायने रखता है। आत्म की नजर से ही वह अपने परिवेश को टांकता है। डायरी में जीवन महत्वपूर्ण है और जीवन से जुड़ी वह तमाम चीजें जो जीवन को बनाने-संवारने में सहायक या असहायक रही हैं। डायरी केवल आत्माभिव्यक्ति का साधन मात्र नहीं है। वह डायरीकार की आत्मचेतना और युगचेतना का संयुक्त प्रकटीकरण है। युगचेतना के अभाव में डायरी केवल आत्मप्रलाप बनकर रह जाती है। डायरीकार ने डायरी को आत्मप्रलाप बनने से रोका है परंतु अपनी व्यथा, पीड़ा और आकांक्षाओं को प्रकट करने से वह स्वयं को नहीं रोक सका है। उसने जीवन में किसी तरह के अहंकार, दिखावेपन और झूठी प्रशंसा के घेरे में उलझा रहा। डायरी की प्रस्तावना में वे लिखते हैं, 'मेरी जिंदगी में कई हादसे हुए, संकट आए, आशा-निराशा-हताशा के दौरों से गुजरा, शर्मिंदगी के मौके भी आए, अपने को कोसने-लताड़ने के भी, मगर मैं सभी को उलीचता-लांघता गया। आस्था-अनास्था, पाप-पुण्य के चक्कर में कभी न पड़ा। लिखते-लिखते कुछ बनने और पाने की चाह जरूर रही। कोई बड़ा काम हो गया तो हो गया, मगर शान बघारने, ढपोरशंखीपन में तबियतन नहीं फंसा। बड़े-बड़े कारनामे करने की महत्वाकांक्षा कभी नहीं पाली। जैसी भी मेरी स्थिति रही, रुतबा रहा, मेरे साथ लोग आते रहे, मेरे खिलाफ विरोधी आवाजें भी उठती रही। यह बात और है कि मैं उन्हें सुना-अनसुना करता अपनी राह चलता रहा।' पढ़े-लिखे लोगों की कायरता और साहसहीनता पर उनकी 27 नवंबर, 2015 की यह टिप्पणी उनके जीवन के प्रति निजी दृष्टिकोण को साफ करती है, 'जब अच्छे पढ़े-लिखे, विशेषज्ञ माने जाने वाले लोग खुलकर अपने विचार न रख सकें, डरे-सहमे चुप्पी साध लें तो इस सत्ता (सत्ताधारी) के प्रति निष्ठा का नमूना मानने वालों की कमी नहीं है। निष्ठा और कायरता की काट बड़ी महीन है और इनकी परतें परस्पर जुड़ी-बंधी हुई है। इन मनोदशाओं में झांककर देखें तो निष्ठा कायरता में और कायरता निष्ठा में लिपटी हुई मिलेगी। कब तक हम इस तरह महीन कात्ते रहेंगे और अपनों को और दूसरों को भरमाते रहेंगे। जब निडर होकर अपनी बात कहने का वक्त हो और आप निष्ठा की आड़ में चुप्पी साधे रखे, क्या यह पहले दर्जे की कायरता नहीं है?'

डायरीकार को झूठे, बेईमान, कपटी, धूर्त, ढोंगी, कायर और चापलूस लोगों से सख्त नफरत है और यह डायरी में अनेक स्थलों पर प्रकट हुआ है। समय आने पर उन्होंने ऐसे लोगों से पंगा भी लिया है, डरे नहीं हैं। उन्होंने इसके लिए कविता को एक साधन माना है। वे कहते हैं कि यह एक शुरुआत है 'साहस

और डर के बीच' अपने कवि होने की स्पेस तलाशने की। वास्तव में उनकी यह डायरी अपनी पिछली डायरियों से इसलिए अलग है कि इसमें डायरीकार ज्यादा आक्रमक है। वे दुश्मनों और विरोधियों की परवाह नहीं करते। 31 जुलाई, 2015 की प्रविष्टि में लिखते हैं, 'मैंने उन तथाकथित दोस्तों की कभी परवाह नहीं की जो मुझसे जलते रहे और मेरे खिलाफ बोलते रहे, मेरे या मेरे कामों में अड़ंगे लगाते रहे। मेरी चर्चा होती तो वे जलते। मेरा यश मेरा दुश्मन हो जाता। जैसे ही मैं उड़ता, वे मेरे पंख कतरने लगते, लेकिन पता नहीं क्या है जो मुझे उड़ने के लिए प्रेरित करता है और मैं बार-बार आकाश छूने के लिए उड़ता रहता हूं।' इसी तरह डर और साहस के बीच उनकी आगे बढती हुई जिंदगी का मार्मिक दस्तावेज यह डायरी है। हिम्मत और साहस के साथ लिखी गई डायरी ही उनकी दृष्टि में डायरी की असली ताकत है। वे कहते हैं कि डायरी की ताकत को बनाए रखने के लिए जरूरी है कि तथ्यों और घटनाओं की प्रस्तुति के साथ समाज और राज्य को लेकर एक साफ, निष्कपट और निडर आवाज उठती रहे।

डायरी लिखने के बारे में डायरीकार की धारणा एकदम साफ है। वे प्रतिदिन डायरी नहीं लिखते यद्यपि डायरी का प्रतिदिन लिखा जाना आवश्यक समझा जाता है परंतु वे स्पष्ट कहते हैं कि वे रोज डायरी नहीं लिखते। उनका स्पष्ट कथन है कि जीवन का सब कुछ समेटने के चक्कर में डायरी रोजनामचा बन जाती है। डायरी को प्रकाशित करने, न करने के परस्पर भिन्न मतों के बीच उनका स्पष्ट कहना है, 'डायरी पूरी तरह से आत्मपरक रचना है जिसे व्यक्ति सिर्फ अपने लिए लिखता है। 'वह प्रकाशन करने के उद्देश्य से नहीं लिखी जाती', ऐसा मानने वाले हिंदी में ही नहीं, दूसरी भाषाओं में भी मिल जाएंगे। लेखक सबसे पहले अपने लिए ही लिखता है, पर क्या केवल अपने लिए, प्रकाशन से विरत? डायरी के बारे में यह बहुत बड़ी भ्रांति है।' उन्होंने अपनी तीनों डायरियां बिना किसी संकोच और डर के प्रकाशित की। उनका यह भी मानना है कि डरा हुआ आदमी डायरी नहीं लिख सकता। प्रस्तुत डायरी में जून 2010 से सितंबर 2017 तक का कालक्रम मिलता है। पहली प्रविष्टि 6 जून 2010 की है और अंतिम प्रविष्टि 30 दिसंबर 2017 की।

नरेंद्र मोहन की अपने आसपास के साधारण-असाधारण लोगों के प्रति निरीक्षणात्मक टिप्पणियां भी कम रोचक नहीं हैं। परिचित-अपरिचित लेखको, कवियों, मित्रों, छात्रों, सभा-संगोष्ठियों, सम्मेलनों, कार्यशालाओं, साहित्यिक यात्राओं का विवरण डायरी में उनकी अकादमिक सक्रियता को रेखांकित करता है। अपने कई साथियों के अचानक इस दुनिया से चले जाने पर डायरीकार की संवेदनात्मक और संस्मरणात्मक प्रविष्टियां मित्रों के प्रति सहज लगाव और स्नेह को दर्शाती है।

कुल मिलाकर डायरी पठनीय और रोचक बन पड़ी है। साहित्यिक दुनिया और उसकी गतिविधियों से संबंधित प्रसंग महत्वपूर्ण हैं। डायरीकार के व्यक्तित्व को समझने में भी यह डायरी सहायक है। इसे प्रकाशित करने के साहित्यिक तरीके एवं प्रतिदिन न लिखे जाने और गिने-चुने प्रसंगों को ही स्थान देने के आग्रह के कारण यह डायरी विधा के परंपरागत संरचना से पर्याप्त भिन्न है। इस डायरी को हिंदी की नई सृजनात्मक डायरी परंपरा की उल्लेखनीय डायरी कहा जा सकता है और साहित्यिक डायरी के वर्ग में इसे रखा जा सकता है।

पृष्ठ 19 का शेष...

प्यास का जाइका पानी की तरह होता है

नामक अपने निबंध में जिस मार्मिक संवेदना के साथ लेखक रचता है वह मनुष्यता को जीने वाला व्यक्ति ही रच सकता है। बंडेल (हावड़ा) के कपड़ों पर जरी और कढ़ाई का काम करने वाले व्यवसायी गुलाम रसूल और दीक्षपार (बस्ती, उ.प्र.) के अष्टभुजा शुक्ल ऐसे ही व्यक्ति हैं और विश्वास कीजिए इनकी तरह अभी भी और न जाने कितने करोड़ लोग हैं जो नफरत और भय के माहौल को नहीं पसंद करते। 'बंगाले से गंगाजल' निबंध कम रिपोर्ताज अधिक है। लेखक की भुवनेश्वर की ट्रेन यात्रा के दौरान सहयात्री गुलाम रसूल जैसे सहज, सरल मनुष्य की मानुष-कथा। जहां अकुंठ प्रेम और अगाध विश्वास पलता है। मजहब और संप्रदाय की मनुष्य-विरोधी साजिशें यहां नहीं। हावड़ा से भुवनेश्वर जाने वाली ट्रेन में 7-8 घंटे का अंतराल है, भाई गुलाम रसूल जिस अपनापे के साथ लेखक को अपने घर ले जाते हैं और जिस गर्मजोशी के साथ मेहमाननवाजी करते हैं उससे लेखक अभिभूत है - 'यह चावल के दाने किस संस्कृति के हैं और यह पेट किस संस्कृति का है? यह आकस्मिक मेहमानी और मेजबानी किस संस्कृति के हैं? यह प्यार और सत्कार किस संस्कृति का है? संस्कृतियों के बीच नफरत और घृणा का बीजारोपण सर्वथा अमानुषिक है। संस्कृति की राजनीति नहीं चलेगी! संस्कृति की श्रेष्ठता का मिथ्याभिमान? नहीं चलेगा!! संस्कृतियों का अस्वीकार नहीं चलेगा!!! चलेगी तो पारस्परिकता और मेल जोल की संस्कृति। दादा! अब चलूंगा। यह एक नया प्रस्थान है। दादा की पत्नी और उनकी दोनों बेटियां हाथ जोड़े छलछलाई आँखों से अतिथि को विदा कर रही हैं। हां, हां खाली बोतल में चांपाकल से पानी भरकर बैग में रख दो। रास्ता लंबा है।' सचमुच, बिना पानी के लंबा रास्ता तो लंबा रास्ता जीवन का छोटा रास्ता भी संभव नहीं। लेखक, इस पानी बैग में संभालकर रख लेता है। जब वह भुवनेश्वर की यात्रा पूरी कर घर लौटता है और बैग खाली किया जाता है तो उसमें से बंगाल के रसूल भाई के घर का भरी हुई पानी की बोतल निकलती है। मां पूछती है 'बाबू, ई गंगाजल है का?' हां कहने पर मां उसकी दस-बीस बूंदें घर भर में छिड़कती हैं। मां समझती है कि 'मैं बनारस, प्रयाग, पुष्कर या हरिद्वार से लौटा हूं' पर, पाठक समझ जाता है कि लेखक कहां से लौटा है और क्या लेकर लौटा है तो यह है 'पानी की पटकथा'। 'आब-ए-अफसाना'। बशीर बद्र का एक शेर है:

अगर फुर्सत मिले तो पानी की तहरीरों को पढ़ लेना,
हर इक दरिया हजारों साल का अफसाना लिखता है।

कविता

दस्तावेज है थेरीगाथा!

सुधांशु गुप्त

कथाकार

संपर्क :
64-डीडीए फ्लैट, सत्यम इन्क्लेव
झिलमिल कॉलोनी
दिल्ली-110095
मो. 9810936423

थेरीगाथा बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा संघ प्रवास के दौरान लिखी गई कविताओं का संकलन है। बौद्ध साहित्य में इसे सत्त पिटक के खुद्दक निकाय के नवें खंड के रूप में संकलित किया गया है। कविताओं की कुल संख्या 73 है। इनकी भाषा पाली है। थेरवाद संप्रदाय से संबंधित होने की वजह से इन भिक्षुणियों को थेरी कहा जाता था और इनकी कविताओं का संकलन थेरीगाथा कहलाया। ऐसा नहीं है कि नीलिमा पहली बार इस पुस्तक को पाठक जगत के सामने लाईं हैं। लंदन से पाली टेक्स्ट सोसाइटी ने 1883 में पहली बार हर्मन ओल्डेनर्ग और रिचर्ड पिशेल द्वारा पाली में थेरीगाथा पाठ प्रकाशित किया था। इसी सोसाइटी के लिए अंग्रेजी में इसका अनुवाद 1909 में श्रीमती रॉइस डिविड्स ने किया।

बेशक स्त्री के संघर्ष की छवियां बदल गई हों, लेकिन उसके संघर्ष का उत्स-स्त्री होना- कतई नहीं बदला है। वे किसी भी जाति, संप्रदाय से ताल्लुक रखती हों, अभिजात्य हों, निर्धन परिवारों से हों, विवाहित हों या अविवाहित, उनके दुख साझा हैं। कभी पति से पटरी न बैठना, कभी अच्छा वर न मिलना, कभी खराब आर्थिक स्थिति, कभी पुत्र का न होना और कभी पुत्र की असमय मृत्यु और कभी-कभी तो अत्यधिक सुंदर होना भी दुःख का कारण बन जाता है। आमतौर पर स्त्री को समझने के लिए भी हमें पुरुष द्वारा रचित साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता किंतु स्त्रियों के जीवन को समझने के लिए यदि किसी एक पुस्तक का जिक्र किया जाए तो वह थेरीगाथा ही हो सकती है। लेखिका नीलिमा पांडेय द्वारा अनुदित थेरीगाथा इस संदर्भ में अहम पुस्तक है। नीलिमा अपने प्राक्कथन में लिखती हैं, थेरीगाथा बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा संघ प्रवास के दौरान लिखी गई कविताओं का संकलन है। बौद्ध साहित्य में इसे सत्त पिटक के खुद्दक निकाय के नवें खंड के रूप में संकलित किया गया है। कविताओं की कुल संख्या 73 है। इनकी भाषा पाली है। थेरवाद संप्रदाय से संबंधित होने की वजह से इन भिक्षुणियों को थेरी कहा जाता था और इनकी कविताओं का संकलन 'थेरीगाथा' कहलाया। ऐसा नहीं है कि नीलिमा पहली बार इस पुस्तक को पाठक जगत के सामने लाईं हैं। लंदन से पाली टेक्स्ट सोसाइटी ने 1883 में पहली बार हर्मन ओल्डेनर्ग और रिचर्ड पिशेल द्वारा (पांडुलिपियों से) पाली में थेरीगाथा पाठ प्रकाशित किया था। इसी सोसाइटी के लिए अंग्रेजी में इसका अनुवाद 1909 में श्रीमती रॉइस डिविड्स ने किया। हिंदी के पाठकों के लिए थेरीगाथा का अनुवाद सर्वप्रथम डॉ. भरत सिंह उपाध्याय 1947 में प्रस्तुत किया, जो हिंदुस्तानी अकादमी की तिमाही पत्रिका 'हिंदुस्तानी' में अप्रैल-सितंबर अंक में प्रकाशित हुआ। दूसरा अनुवाद 2003 में 'नारी जाति की स्वतंत्रता का प्रथम ऐतिहासिक दस्तावेज थेरीगाथा' शीर्षक से डॉ. बिमल कीर्ति द्वारा किया गया लेकिन हिंदी के ये सभी उपलब्ध अनुवाद गद्य शैली में है। डॉ. नीलिमा पांडेय ने पहली बार थेरीगाथा का अनुवाद पद्य शैली में किया है इसलिए 'थेरीगाथा' पुस्तक की अहमियत बढ़ जाती है। बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा संघ प्रवास के दौरान पाली में लिखी गई कविताएं दरअसल उस दौर में स्त्री संघर्ष, विमर्श और दुखों का ऐसा दस्तावेज है जो किसी एक पुस्तक में मिलना दुर्लभ है। आज जब समकालीन कविता के एक कंधे पर स्त्री विमर्श है और दूसरे कंधे पर स्त्री संघर्ष, तब भी उसमें स्त्री का अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष शिद्दत से दिखाई नहीं पड़ता। थेरीगाथा इस दृष्टि से अपवाद है जिसमें ढाई हजार वर्ष पूर्व स्त्री की संपूर्ण दुनिया उसके सुख-दुख के साथ कविता और भजनों में चित्रित है।

यहां यह बताना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्ध धर्म की बुनियाद लगभग 2600 साल पहले गौतम बुद्ध (ई.पू. 563-ई.पू. 483) द्वारा रखी गई थी। बौद्ध धर्म के प्रभाव का विश्लेषण समाज के विभिन्न घटकों पर किया जाता रहा है। स्त्रियां भी इसका अपवाद नहीं हैं। गौतम बुद्ध के ही काल में स्त्रियां संघ का हिस्सा बनीं

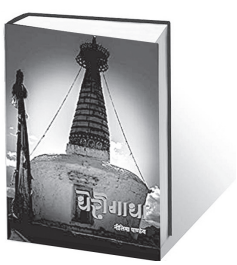

पुस्तक : थेरीगाथा
अंग्रेजी से अनुवाद : नीलिमा पांडेय
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, जयपुर
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 224
मूल्य : ₹ 250

हालांकि संघ में उनके प्रवेश को लेकर बुद्ध की प्रारंभिक हिचक, उनके संघ में प्रवेश से संबंधित नियम, संघ में उनके आचरण को लेकर उन पर तय की गई पाबंदियां यह स्पष्ट करती हैं कि तत्कालीन समाज की भांति ही बौद्ध धर्म भी अपने प्रारूपों में पितृसत्तात्मक सोच से प्रभावित था। इस प्रभाव के बावजूद अपने प्रारंभिक चरण में बौद्ध धर्म स्त्रियों के प्रति वैदिक धर्म की भांति कट्टरतापूर्ण रवैया नहीं रखता था। संघ में रही स्त्रियों के भजन और कविताओं में उनके सामाजिक-धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव दर्ज हैं। इसके साथ ही थेरियों की दृढ़ इच्छा शक्ति भी इन रचनाओं में दिखाई पड़ती है। थेरीगाथा की रचयिता स्त्रियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों की स्त्रियां थीं इनकी आर्थिक स्थितियां भी अलग-अलग थीं। कुछ स्त्रियां अत्यधिक अभिजात्य वर्ग से थीं तो कुछ नितांत निर्धन परिवारों से। इस किताब में थेरियों की पृष्ठभूमि समेत उनका परिचय भी दिया गया है। कुछ ही थेरियां हैं जिनके नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं। इन कविताओं में स्त्रियों की इच्छा-अनिच्छा, महत्वाकांक्षाएं और संवेदनाओं के दर्शन होते हैं। इन कविताओं के माध्यम से आप उस समय के समाज को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। यदि संघ की इन स्त्रियों को आज के संदर्भ में स्त्री संसार मान लिया जाए तब भी आपको स्त्री की दुनिया में कोई फर्क नजर नहीं आएगा। स्त्री के जो संघर्ष, दुख, तकलीफें उस दौर में थीं, कमोबेश वही आज भी हैं। पति से पटरी न बैठना, विधवा हो जाना, पति द्वारा छोड़ दिया जाना, हर काम के लिए पति या पिता की अनुमित लेना अर्थात सभी निर्णय लेने का अधिकार पुरुषों के पास होना, पितृसत्तात्मक सोच, जैसी शायद ही कोई समस्या हो जिनका उल्लेख थेरागीथा की महिलाओं ने न किया हो।

कोशल के गरीब ब्राह्मण की पुत्री मुत्ता नामक थेरी है। उसका विवाह एक कुबड़े के साथ हो गया था। कुछ समय तक गृहस्थ जीवन बिताने के बाद उसने अपने पति को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह उसे सांसारिक जीवन त्यागने की अनुमति दे दे। मुत्ता ने गृहस्थ जीवन त्यागने के बाद अनुभूत मुक्ति के आह्लाद का वर्णन इस प्रकार किया हैः

अहा! मुक्ति
वस्तुतः
अहा! भव्य मुक्ति

थेरीगाथा में यह हो सकता है कि कुछ कविताओं में कविता के तत्व या रिद्म आपको दिखाई न पड़ें लेकिन स्त्रियों का संघर्ष, उनकी सोच, उनके दुःख-तकलीफ, उनकी महत्वाकांक्षाएं, मुक्ति के उनके मार्ग अवश्य दिखाई पड़ते हैं। थेरीगाथा में अनुसंधान कार्य भी पूरी प्रतिबद्धता के साथ किया गया है। थेरीगाथा यह सोचने पर भी बाध्य करती है कि क्या आज की स्त्री थेरियों से इतर हो गई है या आज भी वे पहले की तरह ही संघर्ष कर रही हैं?

मुक्त हूं अब मैं
तीन वक्र वस्तुओं से
अब मैं मुक्त हूं
मुझे चक्की से मुक्ति मिल गई
खरल-ओखल अब मुझसे दूर हैं
वक्र पृष्ठ वाले कुबड़े स्वामी से
अब मैं स्वाधीन हूं
अहा!
पुनर्जन्म और मृत्यु के दुष्चक्र से
छुटकारा मिल गया मुझे
उन समस्त बंधनों को
फेंक दिया है मैंने दूर
जो रोकते थे मेरी मुक्ति की राह

एक अन्य कविता में एक थेरी सुमना कहती हैं-

सांसारिक जीवन दुखमय है
क्या तूने देखा नहीं
मत कर पुनर्जन्म पर आसक्ति
लालसाओं को त्याग कर
तू परम शांति का पाठकर
प्राप्त कर शांति
विचर इधर-उधर।

गृह त्याग को संघा नाम की थेरी इस प्रकार कविता में व्यक्त कर रही है-

मैंने गृह का त्याग किया
परित्याग किया संसार का
त्याग दिया मैंने अपने बच्चों को
छोड़ आई मैं
यत्नपूर्वक पाले गए पशुओं को
निवृत्त हो गई मैं लालसा से
दुर्भाव से मुक्त हो गया मेरा मन
अज्ञान को स्वयं से
कर दिया है बहुत दूर
इच्छाओं और इन कारणों को
कर लिया है वश में
जहां से जन्मी हैं वे
शांत हूं अब मैं
निब्बान की शांति का
साक्षात्कार है यह।

वैवाहिक जीवन की पीड़ा, मुक्ति की चाह और ज्ञान प्राप्ति इन थेरियों की मूल इच्छा है जो इन कविताओं में व्यक्त हो रही है। ऐसा भी नहीं है कि थेरियां केवल और केवल दुखों को ही अपना विषय चुनती थीं। कई थेरियां आत्ममुग्धता की भी शिकार रहीं। अभिरूपनंदा नाम की एक थेरी का उल्लेख आत्ममुग्ध स्त्री के रूप में मिलता है। उसका संघ में प्रवेश उसकी स्वयं की इच्छा के विपरीत माता-पिता की मर्जी से होता है। उसके लिए चुने गए वर चाराभूत की अकस्मात मत्यु इसका प्रमुख कारण है। बौद्ध संघ में रहते हुए भी अभिरूपनंदा की अपने रूप के प्रति आत्ममुग्धता में कोई कमी नहीं आई। अंततः गौतम बुद्ध उसे शरीर की नश्वरता का भान कराते हैं और अभिरूपनंदा अरहंत बनती है। अभिरूपनंदा की गाथा की विषयवस्तु यही हैः

ठहरो नंदा
अपान रुग्ण काया संघट्ट
जो अशुद्ध है
उसके प्रति आसक्ति उचित है क्या
नंदा

धैर्यपूर्वक
शांत चित्त से करो विचार
नश्वर है शरीर
इस अप्रिय घटना को समझने के लिए
स्वयं को करो तैयार
शांत चित्त से सोचो
करो चिंतन
रूप का दंभ ठीक नहीं
उसके प्रति अतिरिक्त झुकाव उचित नहीं
जिस क्षण
मुक्त होगा मन मस्तिष्क
दंभी विचारों से मिलेगी मुक्ति विजय
शांत होगा पथ।

वैशाली (बिहार) में जन्म लेने वाली अंबापाली का जन्म एक पेड़ के नीचे होने के कारण उसे अंबापाली नाम मिला। देखने में वह विलक्षण सुंदरी थी। युवावस्था को प्राप्त करते ही उसका सौंदर्य चर्चा का विषय बन गया। वैशाली के राजकुमारों में उसके साथ विवाह करने को लेकर प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई। इस कलह को शांत करने के लिए पंचायत ने उसे गणिका का व्यवसाय अपना कर राज्य की सेवा करने का आदेश दिया। जीवनपर्यंत अंबापाली ने जीविकोपार्जन के लिए सौंदर्य पर केंद्रित गणिका की तरह जीवन जिया। दैहिक सौंदर्य उसके अधिकांश जीवन के केंद्र में रहा। अंबापाली इस गाथा में बताती हैं कि सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता के समान ही शरीर का सौंदर्य भी अनित्य एवं नश्वर है। अंबापाली अपनी लंबी कविता में कई जगह इसका उल्लेख करती हैं-

फूलों से सज्जित
था दमकता
मेरा केशपाश
सुगंध की पिटारी की भांति
महकता है जरावस्था में
खरगोश के रोएं से
दुर्गंध युक्त।

एक अन्य जगह वह कहती हैं-

गहरी नीली
उज्ज्वल सुंदर
मणि समान
थीं मेरी आँखें
कुरुप और आभाहीन हैं
जरा के प्रभाव में।

एक ओर अंबापाली अपने सौंदर्य का वर्णन करती है तो दूसरी ओर जीवन के उस दर्शन को बताती है कि किस तरह सौंदर्य स्थायी चीज नहीं है। यह अन्य सांसारिक

डॉ. नीलिमा पांडेय ने पहली बार थेरीगाथा का अनुवाद पद्य शैली में किया है इसलिए 'थेरीगाथा' पुस्तक की अहमियत बढ़ जाती है। बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा संघ प्रवास के दौरान लिखी गई कविताएं दरअसल उस दौर में स्त्री संघर्ष, विमर्श और दुःखों का ऐसा दस्तावेज है जो किसी एक पुस्तक में मिलना दुर्लभ है। आज जब समकालीन कविता के एक कंधे पर स्त्री विमर्श है और दूसरे कंधे पर स्त्री संघर्ष, तब भी उसमें स्त्री का अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष शिद्दत से दिखाई नहीं पड़ता। थेरीगाथा इस दृष्टि से अपवाद है जिसमें ढाई हजार वर्ष पूर्व स्त्री की संपूर्ण दुनिया उसके सुख दुख के साथ कविता और भजनों में चित्रित है।

वस्तुओं की तरह ही उम्र के साथ नष्ट हो जाता है। पारिवारिक त्रासदियां थेरियों द्वारा लिखित अधिकांश कविताओं में दिखाई पड़ती है। इसीदासा की गाथा त्रासदियों को आख्यान सा लगती है। उसका संबंध उज्जैनी के संपन्न वैश्य परिवार से था। अपनी गाथा में वह तीन बार विवाह करने और परित्यक्त होने का उल्लेख करती है। पहले विवाह के उपरांत वह एक माह सुख से अपने पति के पास रहती है। पतिपरायण, गृहकार्य में दक्ष और सदाचारिणी होने के बावजूद वह पति के द्वारा नकार दी जाती है। पिता पुनः दो बार उसका विवाह करते हैं किंतु वैवाहिक जीवन उसे रास नहीं आता। अंततः निराश होकर वह संघ में प्रवेश करती है। इसीदासी अपनी कविता में एक जगह कहती हैं-'इसिदासी तू सुख में पली, उम्र भी तेरी नहीं ढली, फिर किस अभाव में तूने प्रवज्या चुनी।' जाहिर है संघ में रहने वाली ये थेरी अपनी गाथाओं में भोगे हुए हर दुख को चित्रित करती हैं। सुंदरी नामक थेरी अपने भाई की असमय मृत्यु से हर समय दुखी रहती है। सुंदरी माता चाहती थीं कि भाई की मृत्यु के बाद वह पारिवारिक विरासत को संभाले लेकिन वह सांसारिक जीवन में अरुचि दर्शाते हुए संघ में प्रवेश की अनुमति मांगती है और संघ में प्रवेश करती है लेकिन सीहा, गुट्टा और रोहिणी जैसी थेरियों को माता पिता से संघ में प्रवेश की अनुमति को लेकर भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन कठिनाइयों का वर्णन भी थेरीगाथा में दर्ज है। मुत्ता और एक अनाम भिक्षुणी की कविताएं संवेदनहीन पति के साथ चूल्हे चौके में स्वाह होते स्त्री जीवन का प्रतिबिंब है। स्त्री जीवन का शायद ही कोई ऐसा पक्ष हो जो इन कविताओं में थेरियों के माध्यम से चित्रित न किया गया हो। इसमें तीन विधवा स्त्रियों की कविताएं भी संकलित हैं जो पति की मृत्यु के बाद संघ में प्रवेश करती हैं। गौतमी प्रजापति गौतम बुद्ध की मां महामाया देवी की बहन थीं। महामाया देवी और गौतमी प्रजापति दोनों का विवाह राजा शुद्धोदन के साथ हुआ। गौतम बुद्ध को जन्म देने के कुछ समय पश्चात ही उनकी माता की मृत्यु हो गई। बालक गौतम का पालन पोषण उसकी मौसी गौतमी द्वारा किया गया। राजा शुद्धोदन की मृत्यु के पश्चात गौतमी प्रजापति ने संघ में प्रवेश का विचार किया किंतु गौतम बुद्ध के द्वारा उन्हें इसकी अनुमति नहीं मिली। स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने के मसले पर गौतम बुद्ध में प्रारंभिक हिचक थी। कुछ समय पश्चात अपने प्रिय शिष्य आनंद के साथ विचार-विमर्श करके उन्होंने स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने का निर्णय लिया। स्त्रियों का एक पृथक संघ बना जिसे भिक्षुणी संघ कहा गया। अपनी गाथा में गौतमी प्रजापति गौतम बुद्ध की प्रशंसा में कहती हैं- हे बुद्ध! हे वीर, प्राणियों में सर्वोत्तम प्राणी, नमन है तुम्हें, जिसने प्राणियों को उनके दुखों से मुक्त किया, दूर हुए सब दुख मेरे, पता चल गया है मुझे, दुख का कारण, मूल है तृष्णा।

डॉ. नीलिमा पांडेय ने थेरीगाथा को पाठकों के सामने लाकर बड़ा और गंभीर काम किया है। यह हो सकता है कि कुछ कविताओं में कविता के तत्व या रिद्म आपको दिखाई न पड़ें लेकिन स्त्रियों का संघर्ष, उनकी सोच, उनके दुख-तकलीफ, उनकी महत्वाकांक्षाएं, मुक्ति के उनके मार्ग अवश्य दिखाई पड़ते हैं। थेरीगाथा में अनुसंधान कार्य भी पूरी प्रतिबद्धता के साथ किया गया है। थेरीगाथा यह सोचने पर भी बाध्य करती है कि क्या आज की स्त्री थेरियों से इतर हो गई है या आज भी वे पहले की तरह ही संघर्ष कर रही हैं?

स्वामीजी के चुंबकीय व्यक्तित्व से आमना-सामना कराती पुस्तक

अनुपमा गुप्ता

कवयित्री

संपर्क :
प्राध्यापक व विभाग प्रमुख,
पैथोलॉजी विभाग
महात्मा गांधी आयुर्विज्ञान संस्थान, सेवाग्राम, महाराष्ट्र
मो. 9422903102

स्वामी विवेकानंद भारतीय चिंतन परंपरा के अग्रणी चिंतक हैं। धर्म और धार्मिक होने के संदर्भ में स्वामी विवेकानंद के दो कथन स्वयं घोषित करते हैं कि आज इक्कीसवीं सदी में वे हमारे लिए कितने उपयोगी एवं प्रासंगिक हैं। आज जब विचार को लेकर नहीं धर्मों के झंडों को लेकर दुनिया एक नए ध्रुवीकरण की दिशा में बढ़ रही है, हमें धार्मिक होने के सही मायने समझने की जरूरत है।

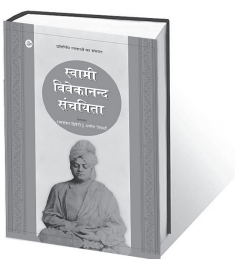

पुस्तक : स्वामी विवेकानंद संचयिता
संपादकः
रमाशंकर द्विवेदी/
अर्चना त्रिपाठी
प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली
प्रकाशन वर्षः 2018
पृष्ठ : 456
मूल्य : ₹ 995

राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित 'स्वामी विवेकानंद संचयिता' विवेकानंद की प्रतिनिधि रचनाओं का विवेकपूर्ण संकलन है तथा संपादकद्वय रमाशंकर द्विवेदी व अर्चना त्रिपाठी के कहे अनुसार अत्यंत समयानुकूल भी। विवेकानंद जैसे प्रखर व्यक्तित्व के 150 वें जयंती वर्ष में प्रारंभ किया गया यह संकलन कार्य पाठकों के समक्ष तब आया है, जब भारत पुनः एक नवनिर्माण काल से गुजर रहा है और ऐसे समय में उनके चिरप्रासंगिक व प्रेरणादायी विचारों से देश के जनमानस को पुनः आलोड़ित करने की आवश्यकता ही इस प्रकाशन के मूल में कही गई है, जो कि इस पुस्तक के पठन के बाद उचित जान पडती है। सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर दूं कि प्रारंभ से ही का इसका पाठन सामान्य पाठन-मात्र नहीं रहा; बल्कि मेरे लिए यह पुस्तक-पारायण की परिभाषा में बैठने वाला अनुभव सिद्ध हुआ। स्वामीजी के विचारों की गहराई में और उनकी व्यापकता में जैसे-जैसे मैं उतरी, एक विवेकशील-सुआग्रही मस्तिष्क, एक जागृत-आनंदमयी आत्मा और एक परम राष्ट्रभक्त-निर्मल हृदय से साक्षात्कार जिस तरह हुआ उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रहा जा सका। पुस्तक में इस प्रेरणादायी व्यक्तित्व के दोनों ही पहलू- हृदय को छू लेने वाला संवेदनामयी भावपक्ष और धार्मिक-आध्यात्मिक रूढता को कठिन चुनौती देता अत्यंत मेधावी विचारपक्ष, बड़ी स्पष्टता से सामने आए हैं। न सिर्फ स्वामीजी के व्याख्यान बल्कि उनकी प्रकाशित गद्य-पद्य रचनाएं, साक्षात्कार तथा औपचारिक बातचीत, उनके संपर्क में आए लोगों की उनके बारे में राय तथा उनका कुछ पत्रालाप भी इस संचयिता में शामिल किया गया है, जो स्वामीजी को व्यक्तित्व के अलग-अलग पक्षों को हमारे सामने रखता है।

विवेकानंद की व्याख्यानमाला में चुने गए विषयों और उनके द्वारा रखे गए तर्कों से प्राचीन भारत की आध्यात्मिक शास्त्रार्थ परंपरा के पुनर्जीवित हो उठने का सा भान होता है। धर्म व आध्यात्मिकता को छूने वाले किसी भी विषय पर जिस दृढ़ता व स्पष्टता से वे अपने विचार रखते हैं उसमें उनसे असहमति की कोई जगह ही शेष नहीं रह जाती। हिंदू धर्म के निरपेक्ष पैरोकार के रूप में जब वे विश्व के सामने एक धूमकेतू की तरह आ प्रकट होते हैं तो उनके तेजोमयी आलोक में हमारे सारे संदेह, दुर्बलताएं, कुरीतियां व पाखंड मुंह छुपाते नजर आते हैं और भारतीयता तथा हिंदुत्व का सहज अभिमान जाग उठता है। उनकी पैनी निगाह से कदाचित कुछ छूटा नहीं है। हिंदू जीवन शैली के उदात्त जीवन मूल्यों पर जितना गर्व उन्हें है, निश्छल भक्ति से आध्यात्मिक साधना की ओर ले जाती राह को वे जितनी सुगमता से सामने रखते हैं, उतनी ही सहजता से वे साधुओं झूठे गुरुओं के पाखंड, अंधविश्वासों और सामाजिक दुर्बलताओं पर कड़ी फटकार भी लगाते हैं। अपने-अपने पंथों, धर्मों से आगे बढ़कर एक वैश्विक धर्म की जो संकल्पना वे हमारे सामने रखते हैं, वह अद्भुत है। अपने गुरुभाइयों व श्रोताओं को प्रेरणा देने के लिए वे ऐसी भावपूर्ण ओजिस्वता से संवाद करते हैं कि उनके हिंदू पुनर्जागरण तथा विश्वोपकार के महती

लक्ष्य पर स्वयं अपना जीवन वार देना सरल लगने लगता है। अखंड ऊर्जा का जो सतत प्रवाह उनसे निसृत होता है उसके चलते स्वयं के कंधे पर कितना बडा उत्तरदायित्व ले लिया है, इसका बोझ उन्हें मालूम ही नहीं होता।

आश्चर्य होता है जब 19वीं सदी के आखिरी वर्षों में ही वे वह वास्तविकता पहचान पाते हैं जिसे 21वीं सदी तक भी हम स्वीकारने को तैयार नहीं हो सके हैं- 'भौतिक साधनों से हमने संपूर्ण जगत को एक बना डाला है, इसलिए आगे आने वाले धर्म को स्वभावतः ही विश्वव्यापी होना पड़ेगा। हम दूसरों के रीति-रिवाजों को अपने मापदंड से न जांचें। हमीं को संसार के साथ चलना होगा न कि संसार को हमारे साथ। वे शुद्ध और निष्कपट प्रेम को ही धर्म का सबसे स्थाई तत्व मानते हैं और प्रेम-त्रिभुज के इन तीन कोणों को मुक्ति का मार्ग।' 1. प्रेम भय का निराकरण कर देता है, 2. प्रेम कुछ मांगता नहीं और 3. प्रेम स्वयं प्रेम के निमित्त ही प्रेम करता है... यह सर्वोच्च अमूर्तिकरण है, यह वही है जो ब्रह्म है। ऐसा प्रेमी जीव दुख उपस्थित होने पर कहता है, दुख! स्वागत है तुम्हारा... तुम भी तो मेरे प्रियतम के पास से ही आए हो... प्रेमस्वरूप ईश्वर पर यह जो खेदशून्य, स्थिर निर्भरता है, वह सचमुच महान वीरता से मिलने वाले नाम/यश की अपेक्षा अधिक वांछनीय है।' इसी प्रकार आध्यात्मिकता को कठिन राह को वे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि सामान्य जन के लिए भी वह सुगम लगने लगती है। अनुष्ठानों, ग्रंथों और दंतकथाओं को भी वे इस श्रृंखला की ही कड़ियां मानते हैं- 'धर्म के किसी भी पक्ष की, जहां तक वह निश्छल है, भर्त्सना न करो।... लेकिन इनका उपयोग यहीं तक है। अध्यात्म रूपी पौधे की बाढ़ में मदद पहुंचाने वाले उपासना प्रकारों की सीमा में जन्म लेना अच्छा है, किंतु इन उपासनाओं के घेरे में ही किसी की मृत्यु हो जाए, तो यह स्पष्ट है कि उसका विकास नहीं हुआ, उस आत्मा की उन्नति नहीं हुई।...परा-भक्ति में प्रतीक तथा रूपाकार विलीन हो जाते हैं। परा-भक्ति तक पहुंचने वाला किसी संप्रदाय विशेष का होकर नहीं रह सकता क्योंकि सब संप्रदाय उसमें ही विद्यमान हैं।' निजी और वैश्विक धर्म के ये आदर्श जो उन्होंने स्थापित किए हैं, उन्हें चुनौती देना असंभव लगता है।

आध्यात्मिकता के वैज्ञानिक आधार को भी उन्होंने भलीभांति प्रस्तुत किया, बल्कि विज्ञान को भी धर्म की ही एक अभिव्यक्ति माना और आग्रह किया कि 'अब इन दोनों (धर्म की अभिव्यिक्तियों- आध्यात्मिकता और भौतिकविज्ञान) के मध्य बंधुत्व की भावना की सर्वोपरि आवश्यकता है। इस प्रक्रिया में दोनों को ही आदान-प्रदान करना पड़ेगा, कुछ त्याग करना पड़ेगा।'

जहां भारतीय समाज के पुनर्जागरण के लिए वे युद्ध स्तर पर कार्यरत थे, वहीं उसके मूल में उनका यह विश्वास काम कर रहा था कि 'सामाजिक दोषों के निराकरण में समाज का भला उतना नहीं देखना चाहिए जितना कि स्वयं का। इसमें हमारे पूर्ण होने की संभावना तो बढ़ ही जाती है, साथ ही जब हमारे प्रयत्नों का फल न निकल रहा हो तब भी हम दुराग्रही नहीं होंगे क्योंकि आखिर में तो संसार कुत्ते की टेढ़ी दुम की तरह ही है और कभी सीधा नहीं हो सकता।' और 'प्रबल उत्तेजना से किए गए समाज सुधार हमेशा विफल ही हुए हैं।' वे चिंतित थे कि राजतंत्र के जाने के बाद भारत में एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए जो लोकशक्ति चाहिए वह नहीं है। पहले लोगों को संगठित करके अपनी समस्याओं को स्वयं हल कर सकनेवाला और एक कल्याणकारी प्रबल लोकमत तैयार करना होगा जिसमें बहुत लंबा समय लगेगा इसका पूर्ण भान उन्हें था और इसकी शुरुआत वे विवेकपूर्ण आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ लाकर करना चाहते थे क्योंकि भारत में लौकिक विद्या बिना धर्म के आधार के, लोगों के हृदय में कभी स्थान नहीं बना सकेगी ऐसा उनका मानना था। उनके जाने के 100 वर्षों बाद हम वही दुर्घटना भारत में घटी हुई देखते हैंः संगठित धर्म और नैतिकता का आधार

'स्वामी विवेकानंद संचयिता' विवेकानंद की प्रतिनिधि रचनाओं का विवेकपूर्ण संकलन है तथा संपादकद्वय रमाशंकर द्विवेदी व अर्चना त्रिपाठी के कहे अनुसार अत्यंत समयानुकूल भी। विवेकानंद जैसे प्रखर व्यक्तित्व के 150 वें जयंती वर्ष में प्रारंभ किया गया यह संकलन कार्य पाठकों के समक्ष तब आया है, जब भारत पुनः एक नवनिर्माण काल से गुजर रहा है और ऐसे समय में उनके चिरप्रासंगिक व प्रेरणादायी विचारों से देश के जनमानस को पुनः आलोड़ित करने की आवश्यकता ही इस प्रकाशन के मूल में कही गई है, जो कि इस पुस्तक के पठन के बाद उचित जान पडती है।

जिससे छीन लिया गया है, वही दिशाहीन लौकिक समृद्धि आज भारत में पांव पसार चुकी है।

वे कहते हैं कि-'वर्ण व्यवस्था तो मात्र सामाजिक विधान है जिसका काम अब समाप्त हो चुका है मगर गौतम बुद्ध से राजा राममोहन राय तक, सबने जातिभेद को गलती से धर्म का अंश माना, जातिभेद खत्म करने के लिए धर्म पर आघात किया और इसीलिए पर्याप्त सुधार लाने में सफल नहीं हो सके।' जहां वेदांत के वे पुरजोर हिमायती हैं, वहीं संपूर्ण वेद साहित्य को आप्तवाक्य मान कर स्वीकार भी नहीं कर लेते। वे उन्हें दैवी रचना भी नहीं मानते और उनमें मौजूद क्रूर, घृणित, स्त्रीविरोधी और हास्यास्पद परंपराओं पर कठोर आघात करते हैं।

देश के लिए जब वे भावपूर्ण होकर कहते हैं कि 'यदि हमारे इस राष्ट्रीय जीवन रूपी जहाज में छेद है तो हम तो उसकी संतान हैं। आओ चलें, उन छेदों को बंद कर दें, उसके लिए हंसते-हंसते अपने हृदय का रक्त बहा दें और यदि हम ऐसा न कर सकें तो हमारा मर जाना ही उचित है... मैं आज तुम्हारे बीच बैठने आया हूं और यदि हमें डूबना ही है, तो आओ हम सब साथ में ही डूबें, पर एक भी कटु शब्द हमारे होठों पर न आए।' तो उनके इस समर्पण पर स्वयं भी समर्पित हो उठने का मन होता है। एकाधिक स्थानों पर वे जोर देते हुए आग्रह करते हैं कि तीर्थस्थान पर अशुद्ध लोगों के रहने से उसका तीर्थत्व नष्ट हो जाता है तथा धर्म निष्कपट प्रेम में ही है, अनुष्ठानों में नहीं, और मानस पूजा ही सच्ची पूजा है तो उनसे सहमत होना बड़ा सहज प्रतीत होता है। वे कोई नया पंथ या समाज नहीं बनाना चाहते थे और धर्म की व्यक्तिपरकता के हिमायती थे।

वे सच्चे अर्थों में विश्वगुरु थे और हर संस्कृति में अच्छाइयां ढूंढकर आनंदित होते थे। 'अमेरिकी महिलाओं सौ जन्म में भी तुमसे उऋण न हो सकूंगा' का उद्घोष करते हुए वे मानते हैं कि भारत में भी समाज की मुक्ति के लिए स्त्रीमुक्ति बहुत जरूरी है। अमेरिकी स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए वे थकते नहीं, 'मैं इस देश की महिलाओं को देखकर आश्चर्य चकित हो जाता हूं। मां जगदंबा की यह कैसी कृपा है? ये क्या महिलाएं हैं, बाप रे! मर्दों को एक कोने में ठूंस देना चाहती हैं। मर्द गोते खा रहे हैं। मां तेरी ही कृपा है। स्त्री-पुरुष भेद की जड़ (मैं) नहीं रखूंगा। अरे! आत्मा में भी कही लिंग का भेद है। अस्ति-अस्ति कहो, नास्ति-नास्ति कह के तो देश गया!' स्वतंत्र स्त्रीत्व को प्रथम बार पहचानना उनके जैसे ब्रह्मचारी के लिए दरअसल पश्चिमी सभ्यता में ही संभव हो सका। स्त्रियों के लिए मातृसम आदर रखने के बावजूद स्त्रियों के बारे में उनकी अपहचान उनके व्याख्यानों में कुछ जगहों पर पूर्वाग्रहयुक्त दिखाई देती है और संसार भर की जिम्मेदारी स्त्रियों के अधिकारविहीन कंधों पर डालती हुई; जैसे कि, 'यदि सभी स्त्रियां इतनी ही शुद्ध और पवित्र होतीं जितना कि वे दावा करती हैं तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त संसार में एक भी पुरुष अपवित्र न रह जाता। ऐसा कौन सा पाशविक भाव है जिसे पवित्रता और सतीत्व पराजित नहीं कर सकता।' इसी प्रकार तत्कालीन हिंदू परंपराओं के पक्ष में बोलते हुए एक दो स्थानों पर वे बाल विवाह की पैरवी तथा लूले, लंगड़े, कुबड़े लोगों के विवाह अधिकारों के खिलाफ दिखाई देते हैं, प्रेम विवाह को निकृष्ट करार देते हैं और उच्च जातियों में स्त्रियों की संख्या ज्यादा है, इस कल्पना के आधार पर विधवा विवाह को गलत ठहराते हैं। हम कह सकते हैं कि लौकिक जीवन व गृहस्थ से एक ब्रह्मचारी की तरह उनका अपरिचय ही उन्हें कभी-कभी इस तरह न्याय व तर्क से भटका जाता है। एक जगह तो वे यहां तक कह जाते हैं कि भारत में दरिद्रता के मानी पाप, गंदगी, व्यभिचार और दुर्व्यसन तो कभी नहीं होते।' किंतु इन कतिपय जगहों को यदि छोड़ दें तो अन्यथा, वे कहीं और तर्क की डोर को कभी नहीं छोड़ते, जहां तक कि अपने साधु संप्रदाय के बारे में कहते हुए भी- 'मैं यह नहीं समझ पाता कि भारत में मानव क्यों इस जीवन की सामग्रियां न पाए, धनोपार्जन न करे। ... वहां करोड़ों को इसके विरुद्ध दृष्टिकोण स्वीकार करने के लिए विवश किया जाता है। वहां के ऋषियों की यह निरंकुशता है। भारत की सारी शक्ति संन्यासी संप्रदायों ने हथिया ली है। इतनी अधिक शक्ति, फिर वह कितने ही अच्छे लोगों के हाथ में क्यों न हो, उचित नहीं।'

इस पुस्तक का एक अन्य बड़ा आकर्षण स्वामीजी की कविताएं हैं। इनमें उनके विचारों का उत्स, उद्गम का उत्साही प्रवाह व प्रशांत स्थिरता तक पहुंचने की दिशा व प्रक्रिया की सौंदर्यपूर्ण झांकी मिलती है। कविताएं 'बुद्धि, श्रद्धा और प्रेम' तथा 'प्रबुद्ध भारत' के प्रति' अत्यंत प्रेरक बन पड़ी हैं।

इस पुस्तक का एक अन्य बड़ा आकर्षण स्वामीजी की कविताएं हैं। इनमें उनके विचारों का उत्स, उद्गम का उत्साही प्रवाह व प्रशांत स्थिरता तक पहुंचने की दिशा व प्रक्रिया की सौंदर्यपूर्ण झांकी मिलती है। कविताएं 'बुद्धि, श्रद्धा और प्रेम' तथा 'प्रबुद्ध भारत' के प्रति' अत्यंत प्रेरक बन पड़ी हैं।

पुस्तक में कुछ भारतीय व विदेशी श्रोताओं पर स्वामी विवेकानंद के व्यक्तित्व के प्रभाव का भी उल्लेख शामिल किया गया है जैसे कि अमेरिका में उनके व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने वाली आईडा ऐंसेल कहती हैं, 'स्वामीजी उच्च कोटि के अभिनेता थे जब वे कोई कहानी सुनाते और नकल उतारते तब उन्हें देखने का आनंद लेने में मेरा लिखना हठात रुक जाता।' वेस्ट मिनिस्टर गजट में उनका वर्णन कुछ इस प्रकार है कि, 'सिर पर पगड़ी धारण किए हुए, शांत और सौम्य मुखमुद्रायुक्त स्वामी विवेकानंद एक भव्य व्यक्ति हैं।' संडे टाइम्स में 'स्वामीजी अपनी पूर्वीय वेशभूषा में एक दर्शनीय व्यक्ति हैं। अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार, प्रेमपूर्ण ढंग और वातार्लाप की महान क्षमता उन्हें लोकप्रिय बनाती है।' 'डिट्राइट फ्री प्रेस' में लिखा गया कि 'वे व्यवहार में मृदु, क्रियाओं में सजग और प्रत्येक शब्द व भंगिमा में अतीव शिष्ट हैं किंतु उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रभावशाली अंग उनकी आंखें हैं, जिनमें महान तेज है।' इन विवरणों में स्वामीजी के विश्वविख्यात चुंबकीय व्यक्तित्व से आपका सीधा आमना-सामना होता है।

पुस्तक का कलेवर और आकार अत्यंत रुचिकर व सुविधाजनक हैं और गहन, धीमी गति के विचारपूर्ण पाठन-अध्ययन के लिए सर्वथा उपयुक्त है। कुल मिलाकर प्रत्येक भारतीय के लिए निश्चय ही यह एक संग्रहणीय पुस्तक है, जैसा कि गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने कहा था, 'यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो पहले स्वामी विवेकानंद का अध्ययन कीजिए।'

कविता

कविता में मूलवासियों के गहरे सरोकार

प्रांजल धर

कवि-आलोचक

संपर्क :
जी-22, एन.पी.एल. कॉलोनी
न्यू राजेंद्र नगर
नई दिल्ली-110060
मो.9990665881

कविता संग्रह 'जलावतन' में तमाम कविताएं हैं जो हमारी जड़ों, बांधों और विकास के कारण गुम होती चली जा रही हमारी विरासत, हमारी सोच और चिंतन की विसंगतियों की ओर इशारा करती हैं। ये कविताएं संग्रह में अलग-अलग क्रम में उपस्थित होती हैं और हमारे वर्तमान परिवेश तथा मानवता की वैज्ञानिक पड़ताल करती हैं। ये सहज मानवीय गरिमा और अस्तित्व के लिए संघर्ष करती हुई कविताएं हैं। यहां तमाम ऐसे देशज शब्द हैं, जिन्हें पढ़कर आनंद तो आता है लेकिन दुःख भी होता है कि उन शब्दों को बड़ी चालाकी से अर्थविहीन और निरर्थक बनाया जा रहा है। अपनी भाषा के संबंध में यहां यह एहसास होता है कि किस तरह हम सब लोगों को एक खास भाषा और एक विशेष संस्कृति में रंगने की खतरनाक साजिशें जारी हैं। कितने ही शब्द हैं जो मंडलोई के यहां एक पहचान और एक अस्मिता की तरह उभरते हैं, हमारी जातीय स्मृति को कविता के कैनवास पर उकेरते हैं, यहां आकर मंडलोई का कवि हृदय एक सजग और चौकन्ना चित्रकार और पत्रकार बन जाता है और ऐसा बनने की इस प्रक्रिया को पाठक अंतरतम तक महसूस करता है।

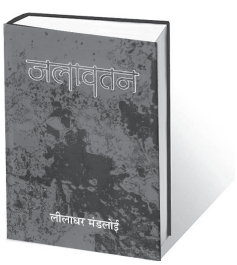

पुस्तक :
जलावतन
कविः लीलाधर मंडलोई
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली
प्रकाशन वर्षः 2018
पृष्ठ : 118
मूल्य : ₹ 200

'जलावतन' वरिष्ठ कवि लीलाधर मंडलोई का ताजा कविता संग्रह है जो देश-दुनिया से विस्थापित हो चुके लोगों को समर्पित है। इस संग्रह की कविताएं हमारे समय और समाज की गहरी विडंबनाओं को और विकासजन्य विरोधों और अंतर्विरोधों को केंद्र में लाते हुए गहरे सरोकारों और प्रतिबद्धता का मर्मवेधी चित्र खींचती हैं। इस संग्रह में, भूले-बिसरे लोगों के हित में, लीलाधर मंडलोई सफलता-असफलता की प्रचलित परिभाषाओं से निरंतर मुठभेड़ करते हैं और संवेदनाओं के प्रायः विस्थापित होते चले जा रहे अर्थों को उनके सही पते-ठिकाने पर वापस लाने का काम करते हैं। हमारी वर्तमान व्यवस्था की विडंबना भी यही है, जैसाकि हन्ना आरेंट पहले ही कह चुकी हैं कि हमें विकल्पों में स्वतंत्रता प्राप्त है, विकल्पों से नहीं। लीलाधर मंडलोई का कवि यहां नवीन विकल्प की तलाश में व्याकुल है। असल में, हमारा समाज और हमारी राजनीति हमें अच्छे और बुरे में चुनने का विकल्प नहीं देती, बल्कि बुरे और कुछ कम बुरे में से किसी एक को ही चुनने का अवसर दे पाती है। 'मर जाते हैं' नामक कविता की कुछ पंक्तियां इस बात का ज्वलंत काव्यात्मक साक्ष्य हैं : 'पेड़ अपने आप नहीं मरते/ और मिट्टी, हवा और धूप/ कोई भी नहीं मरता प्रकृति के कारण/ वे सब मर जाते हैं एक दिन/ जब मनुष्य में जाग उठता है शैतान।' मुनाफे के लालच में आधुनिक भोगवादी और उपभोक्तावादी कॉरपोरेटीय व्यवस्था ने प्रकृति और पर्यावरण के साथ जो अक्षम्य छेड़छाड़ की है, यह उसके प्रति एक चेतावनी ही है।

लीलाधर मंडलोई के पास एक कुशल चित्रकार-फोटोग्राफर की भी आँख है। यह दृष्टि उनकी कविता को बारीक और पाठकों के हृदयस्थल में गहरे उतरने लायक बनाती है। तमाम समाजार्थिक अंतरालों और खाइयों की विकरालता मापतीं ये कविताएं बिंबों की उन जरूरी गलियों में हमें ले जाती हैं, जिनकी बात तो सभी करते हैं लेकिन जिनके बुनियादी सुधार के बारे में कोई भी गंभीर कदम उठाया जाता हुआ नहीं दिखता। 'मुक्ति' कविता में वे लिखते हैं, 'मैं मातृभूमि से दूर हूं मातृभाषा से नहीं/मैं अपनी वाणी में पुकारता हूं तुझे /और अन्यायियों के खिलाफ लिखता हूं/मेरे लिखे का अनुवाद प्रकाशक छापते नहीं डर में /लेखक के बाद प्रकाशक हत्या के दायरे में हैं/मैं चाहूं तो सीख लूं उनकी भाषा/ कि जैसा सुझाते हैं लोग इस सुदूर देश में/मैं कोई ऐसा लेखक नहीं जो विश्वव्यापी सफलता चाहता है।' जाने-माने पश्चिमी विद्वान डेरेक हीटर ने ब्रह्मांडीय नागरिकता (कॉस्मोपॉलिटन सिटीजनशिप) की जो

संकल्पना दी है, यह कविता उस संकल्पना की बुनियाद से बुनियादी और पारिभाषिक मुठभेड़ करती है। इस मुठभेड़ के साथ ही यहां कवि की पक्षधरता भी स्वयंसिद्ध हो जाती है।

यह दुनिया की विडंबना ही है कि विश्व में संसाधनों का वितरण समानतापूर्ण और न्यायपूर्ण नहीं रहा है और अनेक सरकारी और गैर-सरकारी वैश्विक प्रतिवेदन भी इस बात के गवाह हैं कि कुछ लोग विकास की बेतहाशा दौड़ में बहुत पीछे छूट जाने को और अकेले पड़ जाने को अभिशप्त हो गए। रोटी, कपड़ा और मकान की तो समस्याएं अभी हल भी नहीं हुईं थीं, कि सड़क, बिजली, पानी तथा स्वास्थ्य, शिक्षा रोजगार की मुसीबतों ने निर्धनों के अस्तित्व की चूलें हिला दी हैं। कवि का सरोकारमूलक हृदय आम आदमी के इस अकेलेपन का बहुत सूक्ष्मतापूर्वक प्रेक्षण करता है और उस मनुष्य और मनुष्यता के साथ खड़े होने का प्रयत्न करता है, जो लगातार अकेले ही पड़ते चले जा रहे हैं- 'अकेले पड़ते जाना एक खतरनाक प्रक्रिया है/एक अंधेरा आपको शुरू कर देता है लीलना /कि भरोसेमंद के साथ बने रहने के एहसास से ज्यादा/कुछ भी नहीं अमर इस दुनिया में।' यह सारी कविता अभिधा की बजाय लक्षणा और व्यंजना में चलती है। जो चीजें छीजती चली गईं हैं, जिनका भयंकर क्षरण हुआ है, वह प्रकृति या पर्यावरण ही नहीं हैं, बल्कि उन क्षरित होती चीजों में वह विश्वास भी है, जो मानवता की आधारशिला रहा है। लेकिन यह छले गए या हारे हुए आदमी की या हारे हुए कवि की कविता नहीं है। इसके उलट यह संघर्ष और जिजीविषा की सहज व मार्मिक कविता है, जो कहती है कि, 'मैं एक चट्टान हूं/अपने भरोसे पर टिकी/जाने कितने हमले/कितने बमों की धमक में कांपती/ मैं टिकी हूं कि/मेरी छांह में कितने परिवार हैं/गुजर-बसर करते/इसे फिलवक्त आप उनका वतन भी कह सकते हैं।' वतन की यह परिभाषा संकीर्ण राष्ट्रीयता की बजाय उस अंतरराष्ट्रीयता की बात करती है, जिसका उल्लेख प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वसुधैव कुटुंबकम के रूप में किया गया है। कवि वसुधैव कुटुम्बकम का पोषक-समर्थक है, लेकिन मार्शल मैक्लुहान के उस ग्लोबल विलेज का नहीं, जिसे सिर्फ कहने भर के लिए ही वैश्विक कहा जा रहा है और जिसमें पश्चिमी मूल्य ही प्रमुखता से अपनी धौंस जमाते चले जा रहे दिखते हैं।

लीलाधर मंडलोई के यहां प्राचीनता को याद करना अतीतप्रेमी हो जाना नहीं है, बल्कि विवेकवान और समतावादी हो जाना है। इस संग्रह 'जलावतन' की एक कविता 'हक की लड़ाई' में वे लिखते हैं, 'मैं याद करता हूं और

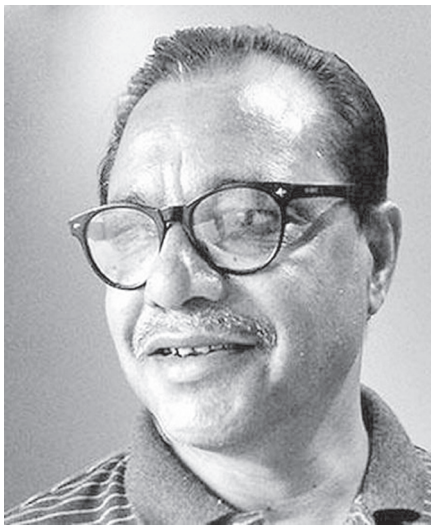

लीलाधर मंडलोई के पास एक कुशल चित्रकार-फोटोग्राफर की भी आँख है। यह दृष्टि उनकी कविता को बारीक और पाठकों के हृदयस्थल में गहरे उतरने लायक बनाती है। तमाम समाजार्थिक अंतरालों और खाइयों की विकरालता मापतीं ये कविताएं बिंबों की उन जरूरी गलियों में हमें ले जाती हैं, जिनकी बात तो सभी करते हैं लेकिन जिनके बुनियादी सुधार के बारे में कोई भी गंभीर कदम उठाया जाता हुआ नहीं दिखता।

गाता हूं पुराने गीत/ मैं कुटिल भंगिमाओं वाला आधुनिक कवि नहीं/ मेरी आवाज न ही कहीं गिरवी है और/ किसी बड़ी कंपनी का मैं खरीदा गुलाम भी नहीं।' इस कविता में वैचारिक या मानसिक गुलामी जैसी बात की बजाय अपनी जड़ों से गहरा प्यार और हमारे समाज के हाशिए के, बल्कि मूलवासी जनों के उत्थान की काव्यात्मक कोमल कामनाएं हैं। मंडलोई कोमल संवेदनाओं के कवि हैं और उस चीज को देख लेने की क्षमता रखते हैं, जो बहुधा बहुलांश समाज के लिए रूढ़ और स्वीकृत मानक की तरह चलता चला आ रहा है। इस संग्रह में एक कविता है, जिसका शीर्षक है, 'अंतिम सिपाही की तरह।' यह कविता अपने आप में जिजीविषा की एक संघर्षपूर्ण वीरोचित कथा कहती है- 'मैं उनके लिए पागल हूं जिन्हें बचा न सका/ मैं उनके लिए रोता हूं जो लड़ते हुए कब्र में अब भी जिंदा हैं।' इस कविता में कवि की अंतःश्चेतना यानी भीतर के कलाकार की सराहनीय ऊंचाई वर्णित है। यहां विवशता-लोक में विचरण करते उस विवश निर्धन की कथा तो है, जिसे बचाया नहीं जा सका, पर उसमें ईमानदारी, जुझारूपन और सच्चाई की अनुपमेय दमक भी विद्यमान है। शिल्प के स्तर पर कहें, तो कोई कवि इसलिए बड़ा होता है क्योंकि वह मूल विषय को स्पष्ट रूप से कहे बिना ही मूल विषय को कितनी गंभीरता और संजीदगी से पाठकों के सामने खोलकर रख देता है।

उपभोक्तावाद, नव - उदारीकरण और बाजार ने हम सभी लोगों से हमारी जड़ें छीनीं हैं; बाजार आज एक आम आदमी के बेडरूम तक प्रविष्ट हो गया है; इसी बाजार ने हमें हमारी बेहद समृद्ध स्मृतियों से वंचित कर दिया है और हमें ग्राहक, कस्टमर और कंज्यूमर की शक्ल में तब्दील कर दिया है। तब्दील क्या कर दिया है, हमारी बहु-आयामिता को बेहद चालाकी से रिड्यूस करते हुए विशालकाय आवारा पूंजियों वाली इस व्यवस्था ने हमसे हमारी मनुष्यता तक छीनने की महीन साजिशें रची हैं। मंडलोई का कवि प्रतिरोध की किस बुनियादी ईंट को पकड़ता है, उसका एक नमूना यह है कि संग्रह की पहली ही कविता 'मेरा प्रेम' में कवि लिखता है कि 'मैं जो बोलता हूं वह मेरा बोला नहीं/उसमें उनकी आवाज शामिल है/जो मेरी तरह बोलते हैं।' जाहिर है कि इस बोलने में प्रेम के अलावा क्रोध, हिकारत और नफरत का जल भी होगा। शायद तभी कवि ने इस संग्रह का नाम 'जलावतन' रखा है पर मंडलोई का कवि मूलवासियों की विशाल जलराशियों के संदर्भ में इन मूल्यों-गुणों-दुर्गुणों की बारीकी को समझने का जतन करता है और बेहद आमफहम भाषा में पाठकों के सामने प्रभावशाली तरीके से रखता है। कुछ ही पंक्तियों की यह कविता इस संग्रह का सार और तत्व है, उसी तरह जैसे न्यायशास्त्र में सार और तत्व हुआ करता है।

यह सार और तत्व विस्थापित जनों की पीड़ा के लिए मरहम जैसा है। इसी सार और तत्व के सहारे न्याय तक पहुंचा जाता है और इसी के सहारे यह कवि अपनी कविता में कवितापन को हासिल करता है, अनुभूति की उड़ान से अधिक यथार्थ की विद्रूपता को हासिल करता है तथा कल्पना की तीव्रता से अधिक प्रेक्षण की विश्वसनीयता तक पहुंचता है। यह प्रेक्षण कैसा है? यह प्रेक्षण हमारे दैनिक

जीवन और अखबारों सहित हमारे जनसंचार माध्यमों का हिस्सा बन चुका है- 'ऐ खुदा!/ ये कैसी मौत और इतनी एक साथ/ कि कब्रों तक में जगह नहीं/ ये कैसी बमबारी/ कि शहर तबाह/ और पशु-पक्षी तक फना!' ऐसे मार्मिक प्रेक्षणों तक पहुंचना, वैसा पहुंचना नहीं है, जहां कोई आकस्मिक रूप से सुबह की सैर करते-करते यों ही पहुंच जाता है। इस पहुंचने में 'पहुंचे हुए कवि' की मार्मिकताएं व्याप्त हैं। दृश्यात्मक माध्यमों और फ्रेम व चित्रों के प्रति अपने जुनून व लगाव के कारण उनका कवि बहुत समृद्ध होता है। संग्रह खुद बताता है कि वे मूलतः संवेदनाओं की गाढ़ी तलैया के आसपास अपना आशियाना बनाने वाले कवि हैं। जिज्ञासा हेतु घूमने का बहाना खोजते रहने वाले कवि हैं। इस संग्रह के बारे में विश्वनाथ त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है कि, 'इन कविताओं में विवरण कम हैं। दृश्यों में टूटन और बिखराव हैं, जो स्थापित होने की स्थिति का निषेध करते हुए विस्थापन का शिल्प बनती हैं।'

लक्षणा और व्यंजना में अपनी बात कहने का मतलब यह नहीं है कि मंडलोई के यहां सपाटबयानी नहीं है। यहां सपाटबयानी मौजूद है, लेकिन छिछली सपाटबयानी की बजाय अभिधा की पूरी गहराई है। शब्दशक्ति की तीक्ष्णता की पूरी समझ है। सरलता की पूरी शक्ति इन कविताओं के जंगल में शिराय लिली के फूलों की तरह खिलती नर आती है। प्रकाशमान दमकता फूल। वे साफ-साफ लिखते हैं, 'मैं समुद्र के भीतर प्रकाशवान मछली की तरह जाता हूं/आकाश में पृथ्वी के धूलकण की तरह/युद्ध में मारे गए व्यक्ति के परिवार में सिपाही की तरह/तानाशाह की नींद में दैत्य की तरह।' तानाशाह की नींद में खलल ही नहीं डाली गई है यहां, बल्कि यहां तो तानाशाह की नींद में राक्षस की ताकत की तरह प्रविष्ट हुआ गया है पर ऐसा राक्षसी मूल्यों की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि उन मूल्यों की रक्षा के लिए, जिन्हें सचमुच मानवीय मूल्य कहा जाना चाहिए और जिन्हें लगातार पूंजी के बोझ से कूबड़ निकल आने की हद तक दबे मीडिया ने विस्थापित कर डालने की साजिशें की हैं।

'आखिरी बयान' नामक लंबी और लगभग गद्यात्मक कविता में प्रेम से संबद्ध जो बिंब उभरते हैं, उनके बारे में कहा जा सकता है कि वे सिर्फ कवि के मन में उभरने वाले बिंब नहीं हैं बल्कि वे आम आदमी के मन में रचने-बसने वाले बिंब हैं जो पाठकों के मनोमस्तिष्क पर देर तक के लिए अपना असर छोड़ जाते हैं; मसलन - 'हर कोई कहता है इस दुनिया

लीलाधर मंडलोई विचारवान कवि हैं, विश्लेषण के कवि हैं, शब्दचित्रों के कवि हैं, गंभीर आलोचकीय मस्तिष्क की प्रौढ़ता के साथ-साथ वे गांव-जवांर और किसान-देहात-आदिवासी-विस्थापितों का स्वयं से अधिक ध्यान रखने वाले कवि हैं। वे लिखते हैं, 'मैं अपने परिवार का दुख किसी को नहीं बताता/ मरा नहीं है मेरी आँखों का पानी।' संकोच, सार्थकता, कोमलता, विचारशीलता और भोक्ता के सत्य से युक्त इस कवि को ध्यान से पढ़े जाने की दरकार है।

में/ कि उसका प्रेम ही सच्चा है।' लीलाधर मंडलोई हमारे समाज के शोषण, गरीबी और असमानता के प्रति इतने कटिबद्ध हैं कि उनकी कविताओं में आशंकाओं और कयास के स्वप्न भी अतार्किक नहीं हैं, उनकी एक गंभीर अर्थवत्ता और विद्रूपता है, उनका एक व्यापक जन-सरोकार और गहरी प्रतिबद्धता है। वे उस स्थिति को देखते हैं जहां प्रेम अदृश्य हिंसा का रूप अख्तियार कर लिया करता है - 'पत्नी रुष्ट रहती है और बच्चे प्रेम पर सवाल उठाते हैं/ वो जिन-जिनसे प्रेम करता है, वे भी उसे इसी तरह समझते हैं।' प्रेम और अदृश्य हिंसा के इस कंट्रास्ट के सहारे लीलाधर मंडलोई यथार्थ के आर-पार देखने की धारदार कोशिश करते हैं। आत्मस्वीकार के इस सहज कवि की एक कविता है 'अमोल', जिसमें वे लिखते हैं कि, 'मेरे पास जो कुछ भी अमोल है/ वह मेरा नहीं/ मेरी सांसों का जीवन/ देह में दौड़ता जल/ पांखियों का अमर संगीत/ धूप की नेमत/ चंद्रमा का शीतल आनंद।' इस कविता को तथाकथित प्राकृतिक सुषमा के संदर्भ में नहीं देखना चाहिए, बल्कि उस संदर्भ में देखना चाहिए जहां आज बहुराष्ट्रीय कंपनियां स्वामित्व का ऐसा व्याकरण रच रही हैं कि वे हवा, पानी, खनिज, जंगल और सांसों तक पर भी सिर्फ अपना ही स्वामित्व मान रही हैं। 'सुनो' नामक कविता में लीलाधर मंडलोई जो कहते हैं, वह संघर्ष की निरन्तरता की गाथा ही है, 'जहां खत्म होता है कोई जीवन/ एक नया शुरू होता है वहीं से/ एक बूढ़े की अंतिम सांसों को/ सुन रहा होता है उसका पोता या नाती आज भी।' ये पंक्तियां ही इसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि कविता की समाजसापेक्षता, मूल्ययुक्तता और परदुखकातरता कैसी होनी चाहिए। कवि ने इस बात की जड़ का संधान किया है कि वे, जो अर्थशास्त्री नहीं हैं, इंजीनियर नहीं हैं, किसान नहीं हैं, मजूर नहीं हैं, विद्यार्थी नहीं हैं, चिकित्सक नहीं हैं, वे ही लोग भारत के भाग्य विधाता हैं।' विडंबनाओं का ऐसा तीखा और यथार्थपरक चित्रण! यह चित्रण ही कवि के स्थान को साहित्य में अनोखा बनाता है।

लीलाधर मंडलोई विचारवान विश्लेषण के कवि हैं, शब्दचित्रों के कवि हैं। गंभीर आलोचकीय मस्तिष्क की प्रौढ़ता के साथ-साथ वे गांव-जवांर और किसान-देहात-आदिवासी-विस्थापितों का स्वयं से अधिक ध्यान रखने वाले कवि हैं। वे लिखते हैं, 'मैं अपने परिवार का दुख किसी को नहीं बताता/ मरा नहीं है मेरी आँखों का पानी।' संकोच, सार्थकता, कोमलता, विचारशीलता और भोक्ता के सत्य से युक्त इस कवि को ध्यान से पढ़े जाने की दरकार है।

इस कविता संग्रह में तमाम कविताएं हैं जो हमारी जड़ों, बांधों और विकास के कारण गुम होती चली जा रही हमारी विरासत, हमारी सोच और चिंतन की विसंगतियों की ओर इशारा करती हैं। ये कविताएं संग्रह में अलग-अलग क्रम में उपस्थित होती हैं लेकिन हमारे वर्तमान परिवेश और मानवता की वैज्ञानिक पड़ताल करती हैं। ये सहज मानवीय गरिमा और अस्तित्व के लिए संघर्ष करती हुई कविताएं हैं। यहां तमाम ऐसे देशज शब्द हैं, जिन्हें पढ़कर आनंद तो आता है लेकिन दुख भी होता है कि उन शब्दों को बड़ी चालाकी से अर्थविहीन और निरर्थक बनाया जा रहा है। अपनी भाषा के संबंध में यहां यह अहसास होता है कि किस तरह हम सब लोगों को एक खास भाषा और एक विशेष संस्कृति में रंगने की खतरनाक साजिशें जारी हैं। कितने ही शब्द हैं जो मंडलोई के यहां एक पहचान और एक अस्मिता की तरह उभरते हैं, हमारी जातीय स्मृति को कविता के कैनवास पर उकेरते हैं, यहां आकर मंडलोई का कवि हृदय एक सजग और चौकन्ना चित्रकार और पत्रकार बन जाता है और ऐसा बनने की इस प्रक्रिया को पाठक अंतरतम तक महसूस करता है। यहां कविता में मूलवासी सरोकार प्रचुरता से मौजूद हैं। यह एक पठनीय ही नहीं, बल्कि संग्रहणीय और पुनःपठनीय कविता संग्रह है।

कहानी

सात कदम : नया अनुभव संसार रचती कहानियां

अखिलेश कुमार दुबे

आलोचक

संपर्क :
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. 9412977064

कहानी संग्रह 'सात कदम' मशहूर प्रवासी लेखिका जय वर्मा का पहला कहानी संग्रह है। यह संग्रह पहला अवश्य है, किंतु वे कहानी काफी समय से लिख रही हैं और भारत, अमरीका और ब्रिटेन की पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियां प्रमुखता से प्रकाशित होती रही हैं। कहानी के अतिरिक्त साहित्य की कविता आदि विधाओं में भी अधिकारपूर्वक लिखती हैं। 'सहयात्री हैं हम' शीर्षक से उनका एक कविता संग्रह प्रकाशित है।

'कल गांव से/एक चिट्ठी आई/बहुत दिनों बाद/शायद नदी ने भेजी थी/ न दिन/न तारीख/न सिरनामा/बस ऊपर कोने में/एक बूंद की तरह/टंका था/छोटा-सा प्यारा-सा/गांव का नाम- 'चकिया'/शहर के उस सबसे व्यस्त चौराहे पर/सबसे छिपाकर मैं देर तक पढ़ता रहा/उस खाली-खाली चिट्ठी को/और सारी चिट्ठी में/गूंजता रहा/चीखता रहा/बस एक ही शब्द/चकिया! चकिया!'

उद्धृत अंश 'चिट्ठी' शीर्षक कविता के हैं। यह कविता हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि स्व. केदारनाथ सिंह की बहुत प्रसिद्ध कविता है। 'चकिया' केदार जी के गांव का नाम है। कवि पढ़ाई-लिखाई और फिर बेहतर भविष्य की तलाश करता हुआ, अपने गांव से क्रमशः दूर जाता रहा, किंतु उसका यह दूर जाना भौगोलिक आधार पर तो जरूर हुआ, उसके मन से, उसकी आत्मा से, उसकी स्मृति से वह कभी भी ओझल नहीं हुआ। दिल्ली जैसे अत्याधुनिक सुविधाओं वाले महानगर में रहते हुए भी कवि अपने गांव को याद करता रहा, उसे हर समय जीता रहा। यही अपनी मिट्टी, अपनी जड़ों की खासियत है कि व्यक्ति दूर जाकर भी करीब आता जाता है। अपनी मिट्टी/अपने देश से दूर गए प्रवासी भारतीयों का भी ऐसा ही हाल रहता है। वे बेहतर भविष्य के लिए दूर देशों में बस गए हैं। कुछ विवशतावश भी। इन सब प्रवासियों ने जो छोड़ा है, पीछे मसलन घर, परिवार, नाते-रिश्ते आदि। ये सब बातें उनकी स्मृति में लगातार मौजूद हैं उन्हें कोंचती रहती हैं, हांट करती हैं चैन नहीं लेने देती हैं। वे भौतिक रूप से निश्चित ही संपन्न होते चले जाते हैं। अपने परिश्रम और लगन के कारण, किंतु उन्हें बराबर बुलाते हैं, उनके कुएं, तालाब, नदी-नाले, खेत-खलिहान, आम, अमरूद, चाचा-ताऊ, तीज-त्योहार और वे कोशिश करते हैं, उन सबको संजोने की। दूर देशों में प्रवासी रहते हुए। प्रवासी भारतीयों के जीवनानुभवों का संसार अद्भुत है। उसमें ढेरों विविधताएं हैं। कई रंग हैं, कई मूड्स हैं। ये अनुभव, आज हमारे लिए सहज उपलब्ध हैं। हमारे प्रवासी भारतीय हिंदी लेखक, अपनी कलम से रोचक, आकर्षक और अनछुआ विश्व रच रहे हैं, हमारे सबके लिए।

ऐसे कई प्रवासी लेखक/लेखिकाएं रचनारत हैं, जिनके पास जीवन के बड़े समृद्ध अनुभव हैं और वे इन अनुभवों की थाती को कुशलता से सृजन में तब्दील कर दे रहे हैं। ऐसे रचनाकारों में तेजेंद्र शर्मा (लंदन/यूके), स्नेह ठाकुर (कनाडा), जकिया जुबैरी (लंदन/यूके) और जय वर्मा (लंदन/यूके) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये रचनाकर्मी भारत से दूर भारत को अपने-अपने दिलों में बेहद सावधानी और हिफाजत से संभालकर रखे हुए हैं।

समीक्ष्य कहानी संग्रह 'सात कदम' मशहूर प्रवासी लेखिका जय वर्मा का पहला कहानी संग्रह है। यह संग्रह पहला अवश्य है, किंतु वे कहानी काफी समय से लिख रही हैं और भारत, अमरीका और ब्रिटेन की पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियां प्रमुखता से प्रकाशित होती रही हैं। कहानी के अतिरिक्त साहित्य की कविता विधा में भी लिखती हैं। 'सहयात्री हैं हम' शीर्षक से उनका एक कविता संग्रह प्रकाशित है। उनकी कविताएं/कहानियां भारतीय स्कूलों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हैं।

'सात कदम' नाम के कहानी संग्रह में कुल सात कहानियां हैं और इसमें एक कहानी जिसका शीर्षक 'सात कदम' है, के आधार पर ही संकलन का नामकरण किया गया है। संकलन की पहली कहानी है 'कोई और सवाल'। यह कहानी डोरीन नाम की एक युवा स्त्री की है जो अपने परिवार के प्रति बेहद ईमानदार, निष्ठावान और समर्पित है। उसने अपनी निजता खोकर अपने परिवार की सेवा की है, लेकिन उसे प्रतिफल के रूप में धोखा, फरेब, क्रूरता हासिल होती है। अपने पति से। बाइस वर्षों तक लगातार घुटते रहने और अपना दांपत्य बचाने की जद्दोजहद करने के बाद वह निर्णय करती है कि अब और नहीं...। वह नए जीवन की तलाश में निकल पड़ती है। कहानी की शुरुआत 'आज डोरीन ने आजादी की सांस ली' से होती है और इसका समापन 'इस समय वह अपने बच्चों, समाज या किसी अंजाम के बारे में नहीं सोच रही थी, बस नए जीवन की तलाश में तेज गति से आगे बढ़ती जा रही थी' से होता है। कहानी पश्चिमी जीवन शैली की प्रामाणिक बानगी से भरी पड़ी है। चरित्रों का अंकन खूबसूरती से किया गया है। इस तरह जय वर्मा एक हिम्मती, परिवार के लिए संपूर्ण रूप से अपना स्वत्व देने वाली और जिजीविषा संपन्न स्त्री का यथार्थ पेश करते हुए समूची अमानवीयता का रेखांकन करती हैं।

संकलन की दूसरी कहानी का शीर्षक है 'गूंज'। इसमें

पुस्तक : सात कदम
लेखक : जय वर्मा
प्रकाशक : अयन प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2017
पृष्ठ : 118
मूल्य : ₹ 250

कहानीकार अपने बचपन की स्मृतियों को एक आख्यान में बदल देती है। इसमें कहानीकार बहुत सरलता से एक 'बाबा' (साधु) की कहानी कहती हुई आगे बढ़ती है और सुंदर और मोहक संसार/निश्छल संसार प्रकट होने लगता है। पहले गांवों में ऐसे हुनरमंद, साधु, फकीर, कलाकार, जादूगर आदि जीविका की तलाश में आया करते थे। उनकी प्रस्तुतियां अद्भुत होती थीं और वे, उनकी कला, सुनने वालों की अमिट स्मृति का हिस्सा बन जाती थीं। ये लोग प्रसिद्धि से दूर, सरलता से जीवन निर्वाह करने वाले लोग थे, जो सदा संतुष्ट रहते थे। इनके गांव-घरों व यहां रहने वाले लोगों से आत्मीय संबंध हुआ करते थे। ऐसे ही किसी बाबा की संगीत-लहरियों की अमिट गूंज को कहानी का सजीव स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। स्मरणीय है कि कहानीकार प्रवासी भारतीय है। वे इस कहानी के बहाने अपने गांव-देश के प्रति दुर्निवार आकर्षण को कहानी का अंग बनाती चलती हैं। कहानीकार अपना गांव, खेत-खलिहान, ताल-तलैया और बचपन बहुत आत्मीयता से याद करती हैं। कुल मिलाकर यह एक सुंदर आख्यान पेश करती हुई कहानी है, जिसमें सरल, विमल बाबा का चित्र व चरित्र दर्ज है जो हमारे समय के लोगों को अविश्वसनीय लग सकता है।

संकलन में 'गुलमोहर' शीर्षक से एक कहानी है, जिसमें आत्मीय कहे जाने वाले पवित्र संबंधों का कटु यथार्थ प्रकट हुआ है। मां-बाप अपना सब कुछ सौंपकर अपनी संतानों की परवरिश करते हैं। उन्हें उनके पैरों पर खड़ा करते हैं और उनकी संतानें अपने मां-बाप को घनघोर स्वार्थ-वश विस्मृत कर देते हैं। अमानवीय हो जाते हैं। यह कहानी बहुत सरल नहीं है। इसमें विस्थापन के दंश को बेहद संवेदनशील तरीके से अभिव्यक्त किया गया है। कथानक मार्मिक है। एक मां (कमला) अपना सब कुछ खोकर कनाडा में बसे अपने पुत्र ध्रुव के साथ रहने को तैयार हो जाती है, लेकिन बेटा अपनी मां को एयरपोर्ट पर छोड़कर चला जाता है। मां ने अपने बेटे के कहने पर अपनी सारी संपत्ति बेच दी थी। बिक्री से प्राप्त सारा धन लेकर ध्रुव कनाडा चला जाता है। यह सब कमला के लिए अविश्वसनीय लगता है- 'बेटे की नीयत पर कैसे शक करूं । संभवतः उसने ऐसी साजिश नहीं की होगी। कोई काम पड़ गया होगा। नौकरी पर कार्यवश उसे जाना पड़ गया होगा। मैंने तो कभी सोचा न था कि ध्रुव कभी ऐसा करेगा? बस कोई संकट उस पर न आए... मन ही मन कमला स्वयं से बातें कर रही थी।' अपना सर्वस्व खोकर भी अपने बेटे की कुशलता की उम्मीद करती कमला हमारे समय की संपूर्ण क्रूरता और अमानवीयता पर से आवरण हटा देती है। कहानी का परिवेश काफी विस्तृत है। कनाडा, मुरादाबाद, नैनीताल, दिल्ली आदि का सटीक परिवेश अंकित है।

'सात कदम' संकलन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण

आज जबकि हिंदी कहानियां अपनी संरचना व संवेदना की दृष्टि से जटिल हो रही है, ऐसे में जय वर्मा बहुत सरल व सधे तरीके से हमारी संवेदनशीलता को छूती हुई, मनुष्यता का पक्ष मजबूत करती हुई उपस्थित होती हैं।

कहानी है। संग्रह का नामकरण भी इसी कहानी के आधार पर किया गया है। कहानी इंग्लैंड में बस चुके पति-पत्नी, उनकी व्यस्त दिनचर्या, ऊब, द्वंद्व, कशमकश के बीच छुट्टियां मनाने क्रूज पर जाने और वहीं पति प्रिंस की मौत से जुड़ी है। पत्नी आपात परिस्थिति में भी अपने पति की अंतिम इच्छा का ध्यान रखने व इच्छा को पूरा करने की कोशिशों में लगी है। वह किसी भी सूरत में अपने पति के शव को मेडिकल कॉलेज भेजना चाहती है। यह दांपत्य-प्रेम की सुंदर कहानी है, जिसमें छोटे-छोटे मर्मस्पर्शी चित्रों की भरमार है। जय वर्मा की कहानियों की एक खूबी यह है कि वे परिवेश-चित्रण बहुत जीवंत तरीके से करती हैं और दूसरी यह कि उनकी कहानियां पाठकों के सामने नया और अपरिचित संसार प्रस्तुत करती हैं।

संकलन की एक और कहानी, जिसका शीर्षक 'किधर' है, के माध्यम से कहानीकार ने एक विस्थापित, विधुर पिता (गोपाल) की जिंदगी के संघर्षों, तनावों और ऊब को बखूबी अभिव्यक्त किया है। गोपाल इंग्लैंड में बस गया है। उसकी पत्नी (कुमुद) की मृत्यु हो चुकी है। गोपाल के बहू-बेटा अपने अपने जीवन में व्यस्त हैं। गोपाल अकेलापन अनुभव करता है। कहानी गोपाल के पौत्र की संगीत-शिक्षिका के प्रति आकर्षण अनुभव करने और उसके विवाह तक की संभावना से उपजने वाली सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से जुड़ी है हालांकि गोपाल का बेटा अपने पिता के प्रति सहानुभूति रखता है, किंतु बहू अपने ससुर के विवाहोपरांत प्रकट होने वाली समस्याओं की आशंका से चिंतित है। कहानी का अंत ठीक नहीं बन पड़ा है। कहानीकार एक किस्म का सस्पेंस छोड़ती हैं या यह संभावना बनती है कि बहू-बेटा अपनी जिंदगी में मस्त हैं, वे अपने दृष्टिकोण से पिता की जिंदगी को देख रहे हैं। इस ओर संकेत करना, कहानी का लक्ष्य है।

'फिर मिलेंगे' शीर्षक से एक अत्यंत उल्लेखनीय कहानी है इस संग्रह में। यह बिलकुल नए विषय पर केंद्रित है। इसमें 'डिमेंशिया' (स्मृतिभ्रंश) के मरीजों के जीवन की त्रासदी को बेहद संवेदनशील रूप से चित्रित किया गया है। 'डिमेंशिया' हमारी सभ्यता की दुष्परिणतियों में से एक है। इसके मरीज की स्मृति अस्त-व्यस्त हो जाती है और साथ ही उसके शेष परिवार का जीवन भी। इस नए विषय का कहानीकार ने सुंदर व प्रामाणिक तरीके से ट्रीटमेंट किया है। कहानी में बेहद भावुक प्रसंगों की भरमार है। डेजी सिंह (इंडिया की मां) डिमेंशिया से ग्रस्त हैं। उन्हें याद करने में कठिनाई होती है। उनकी स्मृति बिखरी-बिखरी सी है, किंतु उनकी स्मृति में बचपन में ही घर छोड़कर जा चुके पुत्र का चित्र मौजूद है- 'बक्से में मां का हाथ पकड़े हुए भाई की बचपन की फोटो को देखकर मैं अचंभित हूं। कमाल की बात है कि कैसे मां ने भाई की फोटो को संभालकर रखा था?... मां मुझसे पिछले कुछ महीनों से पूछती आ रही थी कि वह छोटा बच्चा कहां गया? मैं मां से पूछती रहती थी कि मां कौन सा बच्चा? अब समझ में आया कि मां नर्सिंग होम में किस छोटे बच्चे के बारे में मुझसे पूछ रही थीं।'

'गोल्फ' अंतिम कहानी है। संकलन की। अन्य कहानियों की तरह यह भी एक सशक्त कहानी है। इसमें अकेलापन अनुभव करती, तलाक की नौबत तक पहुंची, ऊबी हुई स्त्री 'सोनिया' के बहाने कहानीकार यह बतलाना चाहती है कि हर किसी को अपने लिए 'स्पेस' तलाशना चाहिए, अपनी प्राथमिकताएं तय करनी चाहिए। अपने लिए भी जीना चाहिए और अपना ध्यान स्वयं रखना चाहिए। कहानी इस ओर भी साफ-साफ संकेत करती है कि यदि लगन और रुचि हो तो कोई काम असंभव नहीं है, जैसा 'सोनिया' ने साबित किया है। नीतू एक कमिटेड दोस्त है, जो अपने मित्र की गृहस्थी उजड़ने से बचा लेती है। यह प्रसंग भी कहानी का मूल्यवान हिस्सा है। जय वर्मा की कहानियों की विशेषताओं की सूत्र रूप में चर्चा करते हुए उनके भारत-प्रेम, विस्थापन का दंश, स्त्री-पुरुष संबंध, स्त्री की निजता के प्रश्न, पश्चिमी परिवेश व जीवन-शैली की प्रामाणिक प्रस्तुति, ऊब व अकेलेपन, दांपत्य-प्रेम व कम चर्चित किंतु बेहद मानवीय प्रसंगों को कहानियों में जगह देना है। इन खूबियों के साथ उनकी एक बड़ी खूबी नरेशन की ताकत भी है। वे अत्यंत रोचक तरीके से कहानी कहती हैं। पाठक धीरे-धीरे खुद को भूलकर उनकी कहानी का हिस्सा बनने लगता है। उनकी कहानियों की भाषा सरल है, इससे कहानी में संप्रेषण की कोई समस्या पैदा नहीं होती है। आज जबकि हिंदी कहानियां अपनी संरचना व संवेदना की दृष्टि से जटिल हो रही है, ऐसे में जय वर्मा बहुत सरल व सधे तरीके से हमारी संवेदनशीलता को छूती हुई, मनुष्यता का पक्ष मजबूत करती हुई उपस्थित होती हैं। यह उनके कहानीकार की एक बड़ी उपलब्धि है।

अध्यात्म चिंतन से लेकर ठेठ शृंगार तक काल-गति

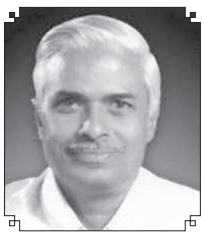

श्रीराम परिहार

ललित निबंधकार

संपर्क :
आजाद नगर
खंडवा-450001
(म.प्र.)
मो. 9425342748
7000057931

डॉ. श्यामसुंदर दुबे अपने कुछ ललित निबंधों में पुराण, इतिहास, मिथक, परंपरा पर चिंतन करते हुए एक सम्यक दृष्टि, सम्यक बोध और सम्यक तर्कना प्रस्तुत करते हैं। किसी भी जीवन की साधारण घटना का आंगन उनके लिए इतिहास और मिथक में प्रवेश का अवसर बन जाता है। समय, इतिहास और स्मृति के आलोक में वे साहित्य, कला, संस्कृति के अनुभवों तक पहुंचते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इनकी सम्यक समझ रचनात्मकता के लिए आवश्यक है, रचनाकार अपने समय में रहते हुए भी भूत-भविष्य की इसलिए कह पाता है क्योंकि स्मृति ही पुनर्सृजन करती है। जहां मानव और प्रकृति अभिन्न हो जाते हैं। संस्कारों का घूमता हुआ वृत्त ही आत्मचैतन्य को जागृत करता है।

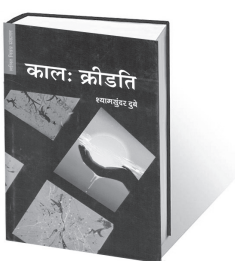

पुस्तक : कालः क्रीडति
लेखक : श्यामसुंदर दुबे
प्रकाशक : यश पब्लिकेशंस, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2017
पृष्ठ: 152
मूल्य: ₹ 495

ललित निबंध मूलतः निबंध ही है। निबंध विधा का मूल लक्ष्य ही बौद्धिक कर्म है। विचार इसके केंद्र में रहता है। इसकी विचार-प्रक्रिया में एक अंतर्निहित संगीत है। ललित निबंध भी निबंध की मूल प्रकृति का ललित-विस्तार है। विचार का संबंध ज्ञान से है। भाव का संबंध अनुभूति से है। ललित निबंध में भाव और विचार की सार्थक युति होती है। अनुभव और ज्ञान का सुमेल रहता है। अनुभव और ज्ञान दोनों का संतुलन जीवन में अपेक्षित है। ललित निबंध में जीवन-दर्शन होता है। बिना दर्शन के कोई रचना नहीं होती। दर्शनहीन रचना रीढ़हीन होगी। अतः विचारात्मकता ललित निबंध के अंतस में रहती है। ललित निबंध में विचारात्मकता भाव की सहचर बनकर आती है। ललित का संबंध सौंदर्य से होता है। सौंदर्य का संबंध दृष्टि और वस्तु से है। दृष्टि का एक सिरा हमारे चित्त से जुड़ा होता है। हमारा चित्त ही अनुभव का स्थल है। अनुभव से हमारी भावात्मकता संपृक्त है अतः सौंदर्य-बोध और लालित्य-बोध परस्पर संपृक्त है। वह लालित्य बोध ही ललित निबंध की पहचान है। ललित निबंध में भाव और विचार के ललित आयाम होते हैं। कुबेरनाथ राय ने इस विधा को काव्य और शास्त्र दोनों कहा है। इसमें व्यक्त और अव्यक्त जीवन-दृष्टि दोनों रहती है। यह मात्र गद्य-काव्य नहीं है। यह बोध-दृष्टि संपन्न विधा है, जो जीवन-जगत के विविध पक्षों का ललित विश्लेषण करती है।

डॉ. श्यामसुंदर दुबे ललित निबंध विधा के समर्थ रचनाकार हैं। उनके पास जीवन की गहरी संवेदना और व्यापक अनुभव हैं। प्रकृति से अपनापन तो है ही; प्रकृति रचना की उत्प्रेरक भी है; यह विश्वास निबंधकार के पास है। भारतीय वाङ्मय की तरल-सरल सरिता उनके अनुभव-चिंतन का सौंदर्य रचती हुई प्रवाहमान रहती है। वे वर्तमान के कठोर परिदृश्य में सुकोमल के खोजी हैं। साधारण दृश्य या साधारण घटना के भीतर से वे जीवन के वास्तव और सृष्टि के सौंदर्य को पकड़ते हैं, परखते हैं, अभिव्यक्त करते हैं। विद्यालय में गायी जाने वाली सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता-'वरदे! वीणा वादिनी वर दे' के माध्यम से वे ज्ञान, प्रकाश, स्वतंत्रता, सौंदर्य, ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती, पराधीनता से मुक्ति, वीणा का स्वर-विलास, राग-रचना, विवेक के साथ भाव की यात्रा, हंसवाहिनी का शब्द-चित्र धरती और आकाश का अद्भुत समाश्रय पाते हुए इसमें मनुष्य के परम पुरुषार्थ को उसकी उच्चतम स्थिति तक पहुंचाने की प्रतिज्ञा अनुभव करते हैं। 'स्वतंत्रता मात्र एक शब्द नहीं है-वह एक जीवन पद्धति है। जीवन पद्धति में ढलकर यह रव अमृत मंत्र बन जाता है। फिर यह रव सुना नहीं जाता है-इसे भीतर भरा जाता है। कान सुनते जरूर हैं किंतु सभी इंद्रियां मानो कानों में सिमट जाती हैं। 'स्वतंत्रता' तब अमृत बनती है, जब वह भीतर से जीवन में ढल जाती है इसलिए निराला ने स्वतंत्र रव के अमृत मंत्र को भारत में भरने की याचना वीणापाणि से की है।' (पृ. 6)

एक तो प्रकाश वह है, जो हमें सूर्य, चंद्र, अग्नि से

मिलता है। दूसरा वह है जो शब्द से प्राप्त होता है सर्जन से प्राप्त होता है। सर्जन ही प्रकाश है। अतः वाक् प्रकाशमयी है। बहुत गहरे संदर्भों में डॉ. श्यामसुंदर दुबे की रचनायात्रा प्रकाश को पाने की है। प्रकाश वाक् का, वाणी का, भाषा का, शब्द का, सर्जन का और लालित्य का। प्रकाश की साधना की यह सारस्वत यात्रा इतनी व्यापक और विस्तीर्ण होती जाती है कि वे जड़ में भी भाषा का अनुनाद सुनते हैं। खंडहर या किले के भीतर से भी उन्हें मिथक, इतिहास, संस्कृति और मानव-सभ्यता के सोपानों की भाषा सुनाई देती है। यह भाषा का शब्दातीत होकर काल का भी अतिक्रमण करने का अविरल प्रवाह है। इसी जमीन पर वे भाषा के व्यक्तित्व से साक्षात्कार करते हैं-'किले की चुप्पी के भीतर से एक भाषा फूटने लगती है। उसके अतीत से जुड़ी भाषा। भाषा का भी अपना व्यक्तित्व, अपनी जड़ें होती हैं। भाषा की जड़ों तक पहुंचकर ही रचना का व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है। कला का कोई भी क्षण भाषा से रहित नहीं है। खंडहर का समूचा अतीत खंडहर की भाषा में ही सिमटा हुआ है।' (पृ. 77-78)

'कालः क्रीडति' डॉ. श्यामसुंदर दुबे के ललित निबंधों का ऐसा संग्रह है जो काल के परिप्रेक्ष्य में ही सृष्टि तत्वों के अस्तित्व का सौंदर्य-विश्लेषण करते हैं। प्रत्येक जीव, प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक वस्तु महत्वपूर्ण है। इनकी महत्ता काल से निरपेक्ष नहीं है। 'पुरुष बली नहीं होत है, समय होत बलवान' का केंद्रीय भाव प्रायः संपूर्ण संग्रह के निबंधों में परिव्याप्त है। काल ही क्रीड़ा कर रहा है। वह सबको क्रीड़ारत किए हुए भी है। समय, काल, महाकाल के संबोधन, रूपक, मिथक और प्रत्यक्ष रूप इस संग्रह के नाना निबंधों में नाना संदर्भों में, नाना रूपों में, नाना ललितों के द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं। प्रकृति संदर्भ जहां लोक के जीवन में सांस्कृतिक रंग घोलते हैं। जीवन-नीड़ में वहां नित नए रूप में वसंत के लिए स्वागतातुर मन हुलसित होता है। समय की वशीधुन ही द्वापर का अतिक्रमण करती हुई बजती रहती है। युग आते हैं, चले जाते हैं। जीवन की गागर का भरना और रीतना चलता रहता है। यह सब भी काल के संकेतों पर ही परिचालित और घटित होता रहता है।-'जीवन और मृत्यु काल की भंगिमाएं हैं, काल नाच रहा है और हम उसकी एक-एक फिरकी को देख रहे हैं-रो रहे हैं, हंस रहे हैं। उसके नृत्य-पदक्षेप को हम आगे बढ़ता हुआ अनुभव जरूर करते हैं? लेकिन वह न तो आगे बढ़ रहा है, न पीछे हट रहा है। लगातार फिरकियां लगाता वह नाच भर रहा है। उसके इस नाच में हजार वर्ष भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितना

डॉ. श्यामसुंदर दुबे ललित निबंध विधा के समर्थ रचनाकार हैं। उनके पास जीवन की गहरी संवेदना और व्यापक अनुभव हैं। अपने समय के सत्य से साक्षात्कार करने और ठीक-ठीक समझने का सामर्थ्य है। प्रकृति से अपनापन तो है ही; प्रकृति रचना की उत्प्रेरक भी है; यह विश्वास निबंधकार के पास है।

एक क्षण। वह सर्वतः संपूर्ण है। वह अविभाज्य है। वह अप्रमेय है।' (पृ. 122) यहां अनायास ही अज्ञेय का काल चिंतन - 'काल का डमरू निनाद' सामने चिंतन की स्लेट पर उभर आता है। अज्ञेय काल के संबंध में सचमुच एक पारदर्शी सत्य उच्चारते हैं, 'यह एक निरवधि, प्रवहमान अस्ति है-प्रत्यावर्ती सनातन काल के चक्र पर अविखंडित, अविखंडनीय कालाणुओं का अजस्र क्रम।'

डॉ. श्यामसुंदर दुबे आषाढ़ के पहले दिन की बरसात को देखते हुए स्मृतियों के उपवन में टहलते हैं, तब धरती-आकाश के पारस्परिक संबंध तो उजागर होते ही हैं; उससे कहीं अधिक व्यक्ति की अपनी स्मृतियों के सघन-कुंज में धंसते चले जाते हैं। आकाश में सांवले-सलोने मेघ घुमड़ते हैं। इधर संवेदनशील जीवन की विगलित स्मृतियों के साथ अनुभूतियों की सघन बरसात होती है। 'मेघदूत' काव्य का जन्म होता है। प्रकृति और जीवन की शत्-शत् स्मृतियां विरह राग गाने को आतुर हो उठती है। इससे छिटककर अनायास ललित निबंध का चिंतक जल-चिंतन के केंद्र में आ जाता है। जल हमारे वर्तमान के चिंतन के केंद्र में है। जल का या नदियों का शोकगीत गाकर समस्या से निरूवारा नहीं जा सकता। नदियों का सूखना-धरती और जीवन से सौंदर्य का सूख जाना है। हमारे गांव-क्षेत्र की नदी ने हमें बचपन के साथ जीवन के संस्कार दिए हैं। वह मां है। उसने पाला-पोसा है इसलिए वह स्मृतियों में और संस्कारों में गहरे पैठी है। मैं स्वयं यदाकदा मां नर्मदा की रेत में रात-बिरात, सुबह-सांझ नंगे पैर हांक लगाता भरमता रहता हूं-ओ मां नर्मदा-तू स्रोतस्विनी है, वयस्विनी है, जीवनदात्री है, कल्याणी है, दुखहारिणी है। तेरी ही तरलता तो जीवन में करुणा बनकर तरलायित होती रहती हैं। हे मेकलसुता, अमरकंठी तेरी लहर-लहर पर तैरते असंख्य-असंख्य दीप जीवन की अनवरत अमरता का प्रकाश राग गाते हैं। हे शाड्करी तू वसुंधरा पर जल के रूप में जीवन-प्राण है। डॉ. श्यामसुंदर दुबे अपने गांव-गिरांव के पास से बहती सुनार नदी को बिसूरते हैं। बार-बार उसके सूने मटियारे घाटों पर लौटते हैं। बहुत भीतर पर बहती हुई पसर गई है सुनार अपने सौंदर्यमय जीवन-प्रसार में। उनका ललित निबंधकार अनुभव करता है-'नदियां तो अपने नीर के कारण ही सृष्टि का सौंदर्य हैं। उनकी निर्मलता ही मनुष्य के भीतर की और बाहर की सफाई करती आई है। जिस निर्मलता को देखकर ही मन निर्मल हो जाए, ऐसी निर्मलता नदियों को दृष्टि-तीर्थ बनाती हैं। नदी की निर्मलता के दर्शन, स्पर्श और पान से जो मुक्तिभाव जन्मता है, उस भाव के सामने ईश्वर हेय हो जाता है। 'कबिरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर। पाछै पाछै हरि फिरे, कहत कबीर-कबीर।' (पृ. 19)

डॉ. दुबे का चिंतन अनेक ललित निबंधों में 'जल को मुक्त करो' का आह्वान करता है। बूंद, समुद्र, वर्षा, नदी, नद, कुएँ, बावड़ी, तालाब, निर्झर, सरोवर, भूगर्भ जल, आदमी के भीतर का पानी, मोती का पानी, जीवन में पानी के कितने रूप और आयाम हैं। शत्-शत् उपयोग के माध्यम से जल को सुकर्म सहित कई कार्यों में संलग्न कराया जाता है। तर्पण, अर्पण, प्यास, तृषा, तोष, संतोष, तीर्थ, मोक्ष आदि-आदि जलानुष्ठान से संपन्न व्यवहार है। इनमें वर्तमान में दृष्टि-निक्षेप आ गया है।

जल अब केवल उपयोग की वस्तु बनकर रह गया है। तीर्थ भाव भी बदल गया है। भाव बदलने से जल के प्रति दृष्टि और उसका उपयोग पावित्र्य भी वस्तुवादी रह गया है। अतः जल का दुरुपयोग और जल का शोषण प्रकृति के विरुद्ध जाना है। यह जल के प्रति षड्यंत्र वैश्विक स्तर पर है। भूमंडलीकरण ने जल-आस्था को खंडित किया है परिणाम में विशुद्ध तीर्थभाव गड़बड़ाया है। निबंधकार की चिंता तीर्थ यात्रियों को पंडे-पुजारियों द्वारा ठगे जाने की है। चिंताजनक यह है कि बाहर के जलस्रोत तो सूख रहे ही हैं; भीतर-भीतर का ज्योति-निर्झर भी सूखता जा रहा है। ललित निबंधकार का चिंतन वर्तमान में सूखते व्यक्ति और समाज के भीतर के सूखते हुए ज्योति-निर्झर पर दो बोल कहता है-'हम अपनी परंपराओं, अपनी अच्छाइयों, अपने आचरण से अनभिज्ञ होते जा रहे हैं। नैतिकता और सदाचार तिरोहित हो रहे हैं। जहां गांव भर काका-ताऊ के रिश्तों में लिपटा रहता था, वहां अब रिश्तों का अता-पता नहीं है। आए दिन संघर्ष होते रहते हैं, ठनती रहती है। गांव थाने में घुसकर लहूलुहान होता रहता है। भीतर का ज्योति-निर्झर जब सूख जाता है, तब बाहर का प्रकाश केवल चौंधियाता है। हम भीतर के प्रकाश को जगाएं। सोये हुए अपने गांव को फिर से बुलाएं।' (पृ. 33)

डॉ. श्यामसुंदर दुबे अपने कुछ ललित निबंधों में पुराण, इतिहास, मिथक, परंपरा पर चिंतन करते हुए एक सम्यक दृष्टि, सम्यक बोध और सम्यक तर्क प्रस्तुत करते हैं। किसी भी जीवन की साधारण घटना का आंगन उनके लिए इतिहास और मिथक में प्रवेश का अवसर बन जाता है। समय, इतिहास और स्मृति के आलोक में वे साहित्य, कला, संस्कृति के अनुभवों तक पहुंचते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इनकी सम्यक समझ रचनात्मकता के लिए आवश्यक है। रचनाकार अपने समय में रहते हुए भी भूत-भविष्य की इसलिए कह पाता है क्योंकि स्मृति ही पुनर्सृजन करती है। जहां मानव और प्रकृति अभिन्न हो जाते हैं। संस्कारों का घूमता हुआ वृत्त ही आत्मचैतन्य को जागृत करता है। वे कहते हैं 'भारतीय रचनाकार वृत्ताकार समय में जीता है; क्योंकि बार-बार उसे वही आदमी मिला है, जिसे उसने युगों पूर्व पाया था 'पुनर्जन्म से लेकर मोक्ष तक की यात्रा स्मृतिहीन या स्मृति से मुक्ति की तलाश है' वापस उसी परम शून्य में लौट जाना, जहां से संसार की रचना संभव हुई थी। स्मृतिहीनता संदेहों, शंकाओं और आसन्न दुखों की निवृत्ति का माध्यम है।

'कालः क्रीडति' डॉ. श्यामसुंदर दुबे के ललित निबंधों का ऐसा संग्रह है जो काल के परिप्रेक्ष्य में ही सृष्टि तत्वों के अस्तित्व का सौंदर्य-विश्लेषण करते हैं। प्रत्येक जीव, प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक वस्तु महत्वपूर्ण है। इनकी महत्ता काल से निरपेक्ष नहीं है। 'पुरुष बली नहीं होत है, समय होत बलवान' का केंद्रीय भाव प्रायः संपूर्ण संग्रह के निबंधों में परिव्याप्त है। काल ही क्रीड़ा कर रहा है। वह सबको क्रीड़ारत किए हुए भी है। समय, काल, महाकाल के संबोधन, रूपक, मिथक और प्रत्यक्ष रूप इस संग्रह के नाना निबंधों में नाना संदर्भों में, नाना रूपों में, नाना ललितों के द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं।

महाकाव्य की सर्गबद्धता और नायकत्व की अवधारणा के भीतर निहित इतिवृत्तात्मकता से लेकर नाटक की सुखांत परिणति में समय की वृत्तात्मक धारणा समायी है। रसदशा की विवेचना के अंतर्गत स्मृतिहीनता तक जाने का क्रम भारतीय दर्शन की अपनी विशेषता है।' (पृ. 65)

डॉ. श्यामसुंदर दुबे का ललित निबंधकार प्रकृति परिवेश और प्रकृति-क्रियाओं में खुलकर रमता है। संग्रह में दशाधिक ललित निबंध ऋतुओं पर या प्रकृति के छवि-दृश्यों पर हैं। प्रकृति इनमें एक जीवित सत्ता की तरह उपस्थित है। वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर, वसंत, ग्रीष्म काल बोध के साथ संस्कृति बोध का संभार लेकर उपस्थित है। बहुत सुकोमल, मंजुल और मोहक दृश्य, माधुर्य गुण के साथ उपस्थित हैं। निबंधकार की दृष्टि उसकी मंजुलता को भेदकर-पारकर मानवीय व्यापार, मानवीय संस्कार, प्रकृति श्रृंगार, जीव सृष्टि की जीवंतता, दर्शन, इतिहास, साहित्य, कला के विग्रहों के सुमन-विभूषित पक्षों तक जाती है। परिणाम में हमें या पाठक को ऋतु वर्णन के एक संपूर्ण मानवीय और वाह्य परंपरा से संवाद करने का अवसर सहज ही सुलभ हो जाता है। प्रकृति के रंग दुबेजी की रचना में गहरे लोकानुभूति के रंग लेकर प्रकृति पटल पर उभरते हैं। गांव के वसंत के साथ खड़ा निबंधकार देखा है- 'गांव वसंत का भले अनुभव न करे, हम जैसे लोग उसे न जानें, पर यह सच है कि वह आएगा, हुड़दंग मचाएगा, कोंपले फूटेंगी, फल विकसेंगे, पराग बिखरेगा, रंग बहेगा, अबीर उड़ेगा, प्रकृति अपना कार्य करेगी ही। अच्छा हो, हम भी प्रकृति के साथ हों! अपने भीतर छिपी फागुनी शक्ति को पहचानें, जगाएं। (पृ. 62)

डॉ. श्यामसुंदर दुबे का चिंतन शब्द के माध्यम से अर्थ और उसकी गरिमा में साहित्य के विस्तार की एक सुदीर्घ परंपरा को आलोकित करते हैं। वे शब्द के भीतर प्रकाश की खोज करने वाले रचनाकार हैं। शब्द के आधार पर वे पूरी भाषिक संरचना की अन्विति उद्घाटित करते हुए भाषा की परिधि का विस्तार जड़-चेतन तक पाते हैं। उनके निबंधों में हम भाषा का अपरिमित विस्तार पाते हैं। फूल, शब्द, खंडहर, कठपुतली, चित्र, नदी, बादल, सूरज, चंद्र, कीट, कृमि, मिट्टी, पानी, धरती, आकाश सबकी भाषा है। सब अपनी-अपनी भाषा और परंपरा में स्वयं को व्यक्त करते हैं। शब्द भी इनके हाथ में आकर और मनुष्य का साथ पाकर स्वयं का परिमार्जन करता रहा है। नए शब्द और नए अर्थ भाषा-परिवार में ठसक के साथ-साथ स्थान पाते रहते हैं। शब्द-अर्थ भाषा और साहित्य के संबंध में इन ललित निबंधों में सूक्ष्म और सटीक चिंतन अवधारणाएं स्थापित होती हैं।

अर्थ के संबंध में वे सुंदर और महत्वपूर्ण बात कहते हैं -'अर्थ का संबंध निश्चित रूप से आत्मा के संस्कारों से है। इन्हीं के आधार पर वह अपनी मुद्राएं तब्दील करता है। वैदिक ऋषि ने उषा, सविता, और अग्नि को नाना नाम दिए। उनका स्तवन किया, उन्हें अपना बनाया। रूप भौतिक जगत से जब अनुभव जगत में प्रवेश करता है, तब वह बिंबों में, सूक्ष्म आकृतियों में, स्मृति में, ठीक उसी प्रकार बदल जाता है, जैसे आँख मींचने पर कुछ खंडित बिंब उभरते हैं।' (पृ. 69)

कालः क्रीडति ललित निबंध संग्रह हमारी शास्त्रीय सांस्कृतिक परंपरा में लोक के अवदान को बार-बार रेखांकित करते हुए लोक चिंतन की वैज्ञानिकता और प्रामाणिकता प्रस्तुत करता है। भारत के पास लोक संदर्भ और उनसे उपजी सांस्कृतिक परंपराएं भारतीय जन-जीवन की आधारभूत थाती है। इनका रक्षण और विस्तार अत्यावश्यक है। ये निबंध हमें अपने धरा-गगन के वास्तविक सत्य के आलोक में ले जाकर ललित देश की यात्रा कराते हैं।

उपन्यास

सागर-मंथन से अमृत भी निकलता है और विष भी

गंगा शरण सिंह

समीक्षक

संपर्क :
रुम नं. 11, सेकेंड फ्लोर,
दुर्गा निवास, ताड़बाड़ी,
अनपूर्णा टॉवर के
सामने, अंबरनाथ (पूर्व)
ठाणे-421501 (महाराष्ट्र)
मे. 9833885952

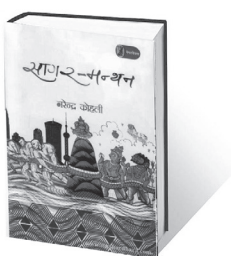

पुस्तक : सागर मंथन
लेखक : नरेन्द्र कोहली
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2019
पृष्ठ: 310
मूल्य : ₹ 695

नरेन्द्र कोहली के समग्र रचना संसार को यदि गौर से देखा जाए तो ये अनुभव होता है कि वे अपनी रचनाओं में भारत की सांस्कृतिक विरासत और परंपरा के प्रति गौरव बोध और निष्ठा का सहज उल्लेख करते हैं। उनके लेखन में विदेशी राष्ट्र और विदेशी सभ्यता संस्कृति के प्रति कहीं कोई अनावश्यक एवं फर्जी मोह नजर नहीं आता।

नरेन्द्र कोहली अपने पौराणिक आख्यानों के लिए प्रसिद्ध हैं। अनेक खंडों और हजारों पृष्ठों में समाहित 'रामकथा' (रामायण पर आधारित), 'महासमर' (महाभारत पर केंद्रित) और 'तोड़ो कारा तोड़ो' (स्वामी विवेकानंद के जीवन पर आधारित) जैसी रचनाओं ने गुजरे दशकों के दौरान पाठकीय लोकप्रियता के बड़े कीर्तिमान अर्जित किए।

इन बहुचर्चित पौराणिक कथानकों के साथ ही नरेन्द्र कोहली ने सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी कई प्रसिद्ध उपन्यास लिखे जिनमें 'क्षमा करना जीजी', 'जंगल', 'साथ सहा गया दुख' आदि प्रमुख हैं। लंबे अरसे के बाद उनका एक और सामाजिक उपन्यास 'सागर मंथन' हमारे सामने उपस्थित है। शीर्षक से तो यह भी पौराणिक ही लगता है किंतु पुराणों में वर्णित सागर मंथन से इसका कोई संबंध नहीं है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि समसामयिक है। दो सुदूरस्थ देशों की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों की पड़ताल करते इस उपन्यास का भौगोलिक विस्तार भारत से अमेरिका तक फैला है।

नरेन्द्र कोहली के समग्र रचना संसार को यदि गौर से देखा जाए तो ये अनुभव होता है कि वे अपनी रचनाओं में भारत की सांस्कृतिक विरासत और परंपरा के प्रति गौरव बोध और निष्ठा का सहज उल्लेख करते हैं। उनके लेखन में विदेशी राष्ट्र और विदेशी सभ्यता संस्कृति के प्रति कहीं कोई अनावश्यक एवं फर्जी मोह नजर नहीं आता। 'सागर मंथन' में भी दो परस्पर विपरीत संस्कृतियों, उनकी सामाजिक विभिन्नता और साझी संवेदनाओं का स्वाभाविक सरस चित्रण हुआ है।

आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास की कथावस्तु के संवाहक हैं केंद्रीय पुरुष चरित्र 'कनिष्क' जो पत्नी अमृता और दूसरे पुत्र प्रभु के साथ भारत में आवासित हैं और इनका छोटा, अविवाहित पुत्र विभु अमेरिका प्रवासी है। कनिष्क दरअसल कोई और नहीं, बल्कि स्वयं नरेन्द्र कोहली हैं। उपन्यास में प्रसंगवश कई स्थानों पर उन्होंने अपने जीवन की वास्तविक घटनाओं और उपन्यास 'वसुदेव' का जिक्र करते हुए इस समानता को स्पष्ट दर्शाया है।

'सागर मंथन' का आरंभ उनकी पत्नी की मानसिक अस्थिरता से होता है जो अपने प्रवासी पुत्र विभु की अविवाहित अवस्था के कारण लंबे समय से परेशान हैं। परेशानी के इसी आलम में वे विभु से, जो नाटकों का शौकीन है और इस समय रिहर्सल पर जा रहा होता है, फोन पर पूछती हैं कि-'विवाह भी करेगा या फिर मंच की प्रेमिकाओं से ही काम चला लेगा?'

आज अचानक विभु स्वीकार करता है कि उसकी एक गर्लफ्रैंड है। मां को प्रसन्न और उत्साहित होते देखकर वह उसे समझाता है कि अभी ज्यादा खुश होने और फिलहाल उसे बहू मानने की कोशिश करना व्यर्थ है। भविष्य में क्या होगा, कोई ठिकाना नहीं। जब यह खबर कनिष्क तक पहुंचती है तो उनकी तरफ से भी कोई नकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं आती। हालांकि मानसिक चिंतन मनन के दौरान उन्हें अंतरजातीय विवाहों के परिणामस्वरूप धर्म और मान्यता संबंधी समस्याओं और द्वंद्व उत्पन्न करने वाले कई प्रसंग याद आते हैं। इन प्रसंगों का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'पति पत्नी के समय तक तो यह मामला ठीक-ठाक रहता है किंतु कालांतर में अगली पीढ़ी के सामने धर्म और सामाजिकता के कई अंतर्द्वंद्व उत्पन्न हो जाते हैं।'

विभु अपनी गर्लफ्रैंड लिजा को लेकर भारत आता है। विवाह के बारे में उसकी राय जानते हुए भी मां पिता और आसपास के लोग उनसे बेटे बहू वाली नजर से ही देखते हैं। पड़ोसी के घर होने वाले कार्यक्रम में भी यह विदेशी बाला आगंतुकों के आकर्षण का केंद्र रहती है।

विभु ने सपरिवार गोवा जाने का कार्यक्रम आने से पूर्व ही निश्चित कर लिया था। लिजा को संत फ्रांसिस जेवियर के शव के दर्शन करने थे। इस अवसर पर इतिहास की वे घटनाएं कनिष्क के अवचेतन में आवाजाही करने लगती हैं जो समय के प्रवाह में धीरे-धीरे जनमानस की स्मृति से लुप्त हो चुकी हैं: 'लिजा को क्या मालूम कि जो लोग उसके लिए साधु संत हैं वे

कितने बड़े लुटेरे और हत्यारे थे। उन्होंने धर्म और शासन के नाम पर कितने अत्याचार किए हम पर।'

गोवा धर्माधिकरण के काल में सहस्त्रों हिंदुओं की हत्या की गई। इस धर्माधिकरण का प्रस्ताव फ्रांसिस जेवियर ने ही रखा था। पूरा परिवार गोवा के किलों और समुद्री तटों का भ्रमण करता है। गोवा से लौटने के बाद विभु के कहने पर लिजा की जन्मपत्री प्रमोद शास्त्री से बनवाई जाती है।

इस समय 'एक ही परिस्थिति में लिजा और घर के अन्य परिजनों की विपरीत मनःस्थितियों' का यह विश्लेषण रोचक है। 'लिजा की सारी उत्सुकता अपने करिअर के बारे में थी और हमारी रुचि विभु के विवाह में ज्यादा थी।'

विभु और लिजा अमेरिका वापसी के बाद सगाई कर लेते हैं। विभु द्वारा घुटनों के बल बैठकर लिजा को अंगूठी भेंट करने की जानकारी उन्हें फेसबुक पर मिलती है। घर के सदस्य यह जानकर प्रसन्न होते हैं और खुशियां मनाना शुरू कर देते हैं। भारतीय परंपरानुसार विवाह का कार्यक्रम बनाकर विभु, लिजा और उसके परिवारजनों के साथ भारत पहुंचता है।

नरेन्द्र कोहली एक कुशल व्यंग्यकार हैं। व्यंग्य रचनाओं से इतर अपने सामाजिक, पौराणिक उपन्यासों और कहानियों में भी उनका यह स्वरूप यदा कदा मुखर हो उठता है। धार्मिक कर्मकांड और विधियों के दौरान पगड़ियां बांधने के लिए गुरुद्वारे से पंडित जी के साथ आए ज्ञानी जी से सब पगड़ियां बंधवाते हैं। पिन की व्यवस्था किसी पक्ष के पास न थी। सब अपनी अपनी पगड़ी मेज पर सजा देते हैं। इस दृश्य में नरेन्द्र कोहली का व्यंग्यकार सजग हो उठा है-'जब तक ज्ञानीजी उठकर चले, तब तक पगड़ियों ने अपने आकार को शिथिल करना आरंभ कर दिया था। ऐसा लग रहा था जैसे बहुत देर से किसी बाध्यता में कसा बैठा व्यक्ति शरीर को आराम देने के लिए अपने पैर पसार रहा हो।'

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में रिसेप्शन रखा गया था। कनिष्क ने मेहमानों को आठ बजे का समय दिया था। इस अवसर पर लेखक के व्यंग्य में चिंतन का संतुलन भी शामिल हैः 'जिन लोगों को हम इतने सम्मान से बुलाते हैं, उनकी सुविधा का ध्यान भी रखा जाना चाहिए। ये नहीं कि सात बजे का समय देकर दस बजे खाना खोलें और लोग इस तरह भोजन पर टूट पड़ें जैसे बेचारों को कभी खाना ही न मिला हो।'

नरेन्द्र कोहली ने लिजा के रूप में एक ऐसी सुलझी हुई युवती का चरित्र गढ़ा है जो अमेरिका जैसे अत्याधुनिक देश की निवासी होने के बावजूद परंपराओं और रिश्तों का सम्मान करने वाली समझदार लड़की है। भारत की स्थानीय परंपराओं और सामाजिक मान्यताओं के प्रति असहमति या

नरेन्द्र कोहली ने लिजा के रूप में एक ऐसी सुलझी हुई युवती का चरित्र गढ़ा है जो अमेरिका जैसे अत्याधुनिक देश की निवासी होने के बावजूद परंपराओं और रिश्तों का सम्मान करने वाली समझदार लड़की है। भारत की स्थानीय परंपराओं और सामाजिक मान्यताओं के प्रति असहमति या आपत्ति का कोई भाव उसमें नहीं है। वह स्वयं को परिस्थितियों के अनुरूप बड़ी सहजता से ढाल लेती है और विवाह के दौरान लिजा बड़ी खुशी से सारी धार्मिक विधियों का पालन करती है।

आपत्ति का कोई भाव उसमें नहीं है। वह स्वयं को परिस्थितियों के अनुरूप बड़ी सहजता से ढाल लेती है और विवाह के दौरान लिजा बड़ी खुशी से सारी धार्मिक विधियों का पालन करती है।

विभु का चरित्र कहीं-कहीं अंतर्विरोध का आभास देता है। विवाह के बाद उपहार में मिले पैसे विभु पिता को ये कहकर दे देता है कि 'शादी का पूरा खर्च भी तो आपने ही उठाया है।' यहां उसकी समझ पाठक को प्रभावित करती है किंतु यही विभु एक छोटी सी बात और मां का विरोध करता है तो उसका व्यवहार खटक जाता है। दरअसल विभु की मां अमृता उपहार में आए सामान को लिजा की उपयोगिता के हिसाब से छांटने की कोशिश करती है। इसी बात पर विभु विरोध करते हुए कहता है कि 'जब लिजा के विवाह में ये सब सामान मिला है तो उसी को ये अधिकार है कि वह किस चीज को रखना चाहे और किस चीज को नहीं।' चूंकि कई प्रकार की साड़ियां और सामान ऐसे थे जो लिजा के काम के नहीं थे और न ही वह उन्हें ढोकर इतना दूर ले जा पाती, इसलिए यहां अमृता का विचार उचित और विभु की प्रतिक्रिया अनुचित लगती है।

इसी समय यह निश्चय होता है कि वे दोनों अमेरिका लौटकर ईसाई पद्धति से भी विवाह करेंगे। विभु की इच्छा है कि इस मौके पर भी उसके माता-पिता वहां उपस्थित हों। अमृता और कनिष्क बहू के लिए हीरे के सेट का उपहार लेते हैं और यात्रा की छोटी मोटी तकलीफ उठाते हुए अमेरिका पहुंचते हैं।

एक स्थानीय रेलवे स्टेशन का नाम रुट 128 देखकर उन्हें आश्चर्य होता है कि इस देश में कैसे कैसे नाम रखे जाते हैं। विभु के मित्रों गणेश और आशीष द्वारा उन्हें स्थानीय ट्रेन में मदद प्राप्त होती है।

बातचीत के दौरान गणेश अपनी व्यक्तिगत समस्याओं पर थोड़ा सहज होते हुए खुलकर बताता है कि घर वाले उसका ब्लैकमेल करते हैं। खासकर उसके पिता लगातार उसका आर्थिक शोषण करते हैं। विवाह के बाद की संभावित स्थितियों पर चिंता करते हुए वह कहता है कि 'यदि विवाह हो गया तो सब कुछ पत्नी का होगा और बस क्रेडिट कार्ड मेरा।'

विभु माता-पिता को रिसीव कर लिजा के मायके वाले घर ले जाता है। सघन वृक्षों के बीच निर्मित खूबसूरत घर, प्रशांत वातावरण और खुलापन देखकर दोनों का मन प्रसन्न हो जाता है क्योंकि ऐसे खुले घर हमारे महानगरों में केवल कल्पना में ही मिलते हैं।

लिजा के माता-पिता का सहज व्यवहार देखकर पाठक अनुभव कर सकेंगे कि किसी भी समाज का कोई ऐसा पूर्ण सत्य नहीं होता जिसके आधार पर उस समाज की मुकम्मल तस्वीर खड़ी की जा सके। अपवाद हर युग और हर परिस्थिति में होते हैं। उनका छोटा सा संतुष्ट और सुखी परिवार देखकर कनिष्क बाहरी तौर पर पढ़ी, सुनी गई परिस्थितियों की तुलना करते हुए सोचते हैं कि 'हमने आज तक उन अमरीकियों के विषय में ही जाना जिनकी रुचि परिवारों में नहीं थी। वे अपने लिए ही जीते थे। यहां हम एक ऐसे परिवार के साथ थे जो पति पत्नी प्रायः पैंतालीस वर्षों से साथ थे।'

अमृता का जन्मदिन है। कनिष्क को लगता है कि बच्चों के ध्यान में मां का जन्मदिन नहीं है। सच ये है कि बच्चों को न सिर्फ याद था बल्कि उन्होंने इसे मनाने की तैयारी भी कर रखी थी। जन्मदिन की ये तैयारियां सरप्राइज के रूप में सामने आती हैं और इस मौके पर विभु मां को वही कैमरा भेंट करता है, जिसे खरीदने की इच्छा अमृता ने

जाहिर की थी।

केक और मोमबत्ती बुझाने की परंपरा पर कनिष्क का ये चिंतन अत्यंत प्रासंगिक है- 'भारत हो या अमेरिका, मैं सोचता हूं वह दिन कब आएगा जब हम बिना मोमबत्ती बुझाए और केक काटे, बिना हैप्पी बर्थ डे गाए किसी का जन्मदिन मनाएंगे। मोमबत्ती बुझाने की जगह दीपक जलाएं और 'आज तुम्हारे जन्मदिवस की मंगल वेला आई' जैसे गीत गाएं।'

समधी टोरी उन्हें वेलेजली घुमाने ले जाते हैं। वेलेजली कॉलेज का भव्य प्रांगण मन मोह लेता है और वहां सीमित छात्रों की मौजूदगी देखकर इन्हें आश्चर्य होता है क्योंकि अपने देश में अमूमन हर कक्षा में सीट से ज्यादा बच्चे होते हैं।

टोरी उन्हें अपने ऑफिस और प्रेस में भी घुमाते हैं। पुरानी तस्वीरों का कोलाज देखते हुए वे उन पुराने दिनों की सैर करते हैं जब टोरी के पूर्वजों की फल और सब्जी की दुकान होती थी। टोरी के परदादा इटली से आए थे।

नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों की पठनीयता और लोकप्रियता का महत्वपूर्ण कारक उनकी सहज, सरल और ग्राह्य भाषा है। कई बार उनके लेखन की इस विशेषता के कारण छोटे-छोटे संवाद भी यादगार बन जाते हैं।

लिजा की बड़ी बहन मारिया उन्हें अपने घर ले जाती है। वहां उसके घर को देखकर उसके पति की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि 'तुम्हारे पति साधारण बिल्डर नहीं, पूरे टाउन प्लानर हैं। वे वन को आंगन और पहाड़ की ढाल को समतल में बदल सकते हैं।' इसी प्रकार लिजा और विभु के संबंध में कनिष्क के मन में उठी यह बात किसी सूत्र वाक्य जैसी प्रतीत होती है: 'प्रेम संबंधों में कामना से आरंभ होकर उपलब्धि तक का कालखंड ही जीवन का सबसे सुहाना समय होता है।'

शैला, लिजा और विभु के परस्पर वार्तालाप के दौरान अंग्रेजी भाषा की सीमा पर हो रही चर्चा के दौरान जब कनिष्क शैला से पूछता है कि समधी के लिए अंग्रेजी में कौन सा शब्द है तो शैला के पास उत्तर ही नहीं होता। अंकल, आंटी, ब्रदर इन लॉ और सिस्टर इन लॉ में सारे संबंधों को समेट देने वाली भाषा दरिद्र ही कही जाएगी।

कॉनकोर्ड भ्रमण के बहाने स्वामी विवेकानंद और कैथरिन सैनबोर्न की चर्चा भी होती है जिनके घर स्वामी जी रुके थे। श्री सैनबोर्न ही स्वामी जी को प्रो. हैनरी जॉन राइट से मिलवाने ले गए थे।

नरेन्द्र कोहली ने इस उपन्यास में उन स्थानीय क्षेत्रों के इतिहास और परंपराओं का वर्णन भी विस्तार से किया है, जो प्रसंगवश कहानी में आते हैं। टोरी के साथ यात्रा करते हुए अमृता और कनिष्क सागर तट से होते हुए केपकॉड, प्रोविंस टाउन पहुंचते हैं। धनवानों के लिए प्राथमिक महत्व के इसी भव्य क्षेत्र में विभु और लिजा का वैवाहिक कार्यक्रम और रिसेप्शन पार्टी होनी है। इस द्वीप की ऐतिहासिकता और यहां से शैला के पूर्वजों का संबंध सूत्र टोरी द्वारा दी गई एक किताब के माध्यम से प्राप्त होता है। अमृता और कनिष्क की यह अमेरिका यात्रा वस्तुतः पुत्र के विवाह तक ही सीमित नहीं रहती। पहले से विदेश में रह रहे रिश्तेदारों और परिचित मित्रों से जब भी इनकी मुलाकात होती है भारत और अमेरिका की संस्कृति पर कोई न कोई बहस अवश्य होती है। बहुत से ऐसे प्रवासी भारतीय हैं जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता को ठीक से जाने बगैर इसकी कटु-आलोचना करते रहते हैं। ऐसे हर अवसर पर कनिष्क उनके साथ तार्किक बहस करते हैं और सिद्ध करते हैं कि तमाम तरह की अव्यवस्था और समस्याएं सिर्फ भारत में ही नहीं हैं। वे विश्व के किसी भी कोने में हो सकती हैं।

आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास की कथावस्तु के संवाहक हैं केंद्रीय पुरुष चरित्र 'कनिष्क' जो पत्नी अमृता और दूसरे पुत्र प्रभु के साथ भारत में आवासित हैं और इनका छोटा, अविवाहित पुत्र विभु अमेरिका प्रवासी है। कनिष्क दरअसल कोई और नहीं, बल्कि स्वयं नरेन्द्र कोहली हैं। उपन्यास में प्रसंगवश कई स्थानों पर उन्होंने अपने जीवन की वास्तविक घटनाओं और उपन्यास 'वसुदेव' का जिक्र करते हुए इस समानता को स्पष्ट दर्शाया है।

उपन्यास के एक पात्र से वार्तालाप के दौरान जब कनिष्क भ्रष्टाचार से संबंधित कोई संस्मरण सुनते हैं और वह व्यक्ति भारत की आलोचना पर उतर आता है, उस समय कनिष्क का यह उत्तर बेहद मानीखेज है: 'आपने क्या सोचा कि यह सारी कहानी मैं आपको भारत का भ्रष्टाचार गिनाने के लिए सुना रहा हूं? करप्शन है, किंतु हम उसका सामना करते हैं। उसका प्रतिरोध करते हैं। उससे लड़ते हैं। उसको सुधारने का प्रयत्न करते हैं न कि गालियां देते हैं। वह हमारा देश है और हम उससे प्यार करते हैं। उसका सम्मान करते हैं, उस पर गर्व करते हैं।'

इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर जब किसी परिचित के घर पर भारत की आलोचना होती है, उस समय कनिष्क की ये तार्किक प्रतिक्रिया सामने आती है- 'किसी देश में एक नगर में रहना और बात है तथा उस देश के भूत और वर्तमान को जानना दूसरी बात। भारत को जानना हो तो उसके भूगोल के साथ-साथ उसके इतिहास को भी जानना होगा, उसकी पौराणिक मान्यताओं को भी जानना होगा। कनॉट प्लेस या दिल्ली भारत नहीं है। उसके लिए हिमालय से कन्याकुमारी, द्वारका से मणिपुर तक के भारत को जानना होगा।' उनके भाई अजित के घर जब कण्व गौरवभाव से ये बताता है कि उसने अपने पुत्र को अमरीकी नागरिकता दी है, तो किसी वार्तालाप के दौरान कनिष्क कहते हैं कि 'उसने कितना महान कार्य किया है! किंतु उसका ध्यान क्या कभी इस बात पर जाएगा कि उसने अपने बच्चे से क्या-क्या छीन लिया है? किन-किन चीजों से वंचित किया है। वह कभी अपने पिता का नाम शुद्धता से नहीं ले पाएगा क्योंकि उसकी अंग्रेजी उसे 'ण' नहीं बोलने देगी। कण्व ने उसे उसकी सहस्त्रों वर्षों की उन समस्त परंपराओं और उत्तराधिकार से वंचित कर दिया है जिनमें उसका जन्म हुआ था और जो उसे सरकार से नहीं ईश्वर से प्राप्त हुआ था।'

अमेरिका की धरती पर रहते हुए कनिष्क उन स्थलों और स्मृतियों का पुनरावलोकन करते रहते हैं जिनका संबंध भारत के गौरव से जुड़ा हुआ है। वे जानते हैं कि यही वह देश था, जहां से स्वामी विवेकानंद ने सारे विश्व में भारत का महत्व स्थापित किया था। भारत की सांस्कृतिक विरासत और राष्ट्रवाद के बारे में उनकी चेतना पूर्वाग्रह मुक्त है।

इस उपन्यास में घटनाओं और पात्रों की मनःस्थिति का तटस्थ चित्रण हुआ है। इसे एक अच्छा उपन्यास इसलिए कहा जाएगा क्योंकि यह वैचारिक रूप से पाठक को चिंतन मनन करने की प्रेरणा देता है।

किताब का समापन अंश भी प्रभावशाली है। डेविड और कनिष्क के परस्पर वार्तालाप के दौरान धर्म, पूजा, उपासना, भक्ति और अध्यात्म पर विस्तार से चर्चा होती है। अमेरिका के बारे में डेविड का मत है कि 'अमेरिका वह तपती हुई भट्ठी है जिसमें कठोर से कठोर धातु पिघलकर अपना मूल आकार छोड़ देती है।' वहीं अमेरिका की संस्कृति पर कनिष्क की व्याख्या ये है कि 'यहां देव दानव, यक्ष और नाग सब मिलकर अपने-अपने लाभ के लिए सागर-मंथन कर रहे हैं। सागर-मंथन से अमृत भी निकलता है और विष भी। मैं यहां कितने ही भारतीय परिवारों से मिला हूं, किंतु इस धरती के संपर्क से उन सबका विष ही बाहर आया है। निकलेगा, अमृत भी निकलेगा, किंतु वह सबसे अंत में निकलेगा। अमृत के रूप में शायद वह मानवता सामने आए जिसकी चर्चा डेविड कर रहे हैं।'

यात्रा वृत्तांत

संस्कृति और प्रकृति गाथा सुनाती यात्राएं

यात्रा वृत्तांत ऐसी कहानी की तरह हो जाते हैं, जिनका फिल्मांकन संभव है। आप केवल संवाद नहीं कर रहे हैं, पटकथा भी देख रहे हैं। रंग से लेकर ध्वनियों तक और आस्था से तर्क तक राजेश व्यास आपको सहजता से ले जाते हैं। राजेश व्यास यात्राओं को अपनी ऐसी ही सात्विक विशिष्ट दृष्टि से समृद्ध और सुग्राह्य बना देते हैं। यात्राओं को परिक्रमाओं में बदल देते हैं।

ज्ञानेश उपाध्याय

पत्रकार

संपर्क :
149, रेल विहार,
सेक्टर-33,
नोएडा-201301 (उ.प्र.)
मो. 9314404606

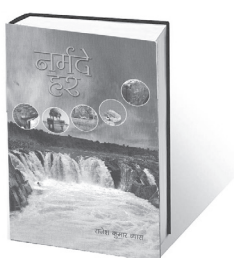

पुस्तक : नर्मदे हर
लेखक : राजेश कुमार व्यास
प्रकाशक : नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ: 130
मूल्य : ₹ 190

कोई यात्रा अगर ठीक से की जाए, तो वह परिक्रमा में बदल जाती है। ठीक से यात्रा वृत्तांत लिखा जाए, तो वह पाठकों को भी अपने साथ यात्रा पर लिए चलता है। कुछ आंखें केवल लंबाई, चौड़ाई देखती हैं, तो कुछ सक्षम आंखें गहराई भी नाप लेती हैं। यात्राओं का भी अपना 'डाइमेंशन' या आयाम होता है। आम तौर पर वैज्ञानिक तकनीक 3 डी यानी त्रि-आयाम तक पहुंचने में कामयाब हुई है। 3 डी तक आंखों के जरिए पहुंचा जा सकता है, किंतु डॉ. राजेश कुमार व्यास की जो मल्टी-डाइमेंशन या बहु-आयामी पहुंच है, वह उनकी व्यापक दृष्टि से ही संभव होती है। यहां निगाहें तो केवल भौतिक रूप से इधर-उधर जाती हैं, वस्तुतः आप दृष्टि के सहयोग से चीजों को अंदर और बाहर से निहारते चलते हैं। यहां यात्रा-दृष्टि में बहुमुखी विद्वता भी है और प्रवाहमान भावपूर्ण कवि की कोमलता भी। राजेश व्यास यात्राओं को अपनी ऐसी ही सात्विक विशिष्ट दृष्टि से समृद्ध और सुग्राह्य बना देते हैं और यात्राओं को परिक्रमाओं में बदल देते हैं।

यहां अच्छे यात्रा वृत्तांत ऐसी कहानी की तरह हो जाते हैं, जिनका फिल्मांकन संभव है। आप केवल संवाद नहीं कर रहे हैं, पटकथा भी देख रहे हैं। रंग से लेकर ध्वनियों तक और आस्था से तर्क तक राजेश व्यास आपको सहजता से ले जाते हैं। इस संग्रह में कुल 36 यात्रा अंश या यात्रा लेख हैं और इसमें सबसे बड़ा आकर्षण 'नर्मदे हर' खंड वाली 11 यात्राएं हैं। नर्मदा यात्रा वास्तव में नर्मदा परिक्रमा ही है। संसार की एकमात्र नदी, जिसकी परिक्रमा का समृद्ध विधान है। राजेश व्यास नर्मदा के उद्गम कुंड के पास नर्मदा दर्शन में डूब जाते हैं और लिखते हैं, 'मैं वहीं बैठ जाता हूं। कुंड के पानी के छींटे डाल मन ही मन गुनगुनाता हूं, छांटा लागे नीर का, पाप गया शरीर का। लो हो गया नर्मदा स्नान।...श्रद्धानत हो, नर्मदा के पानी का आचमन करता हूं। वहीं स्नान कुंड के पास बने मंदिरों में विचरते मन में नर्मदा परिक्रमा का विचार आता है। पर सोचता हूं उस पथ पर तो 3 साल 3 माह 13 दिन लग जाएं! सरकारी नौकरी से अवकाश कैसे मिलेगा? संसारी बंधनों से बंधे काम से मुक्ति कैसे होगी?'

यहां यात्रा वृत्तांत में एक बड़ा अंतर पैदा हो जाता है, समझ में आ जाता है कि राजेश व्यास सामान्य यात्री या पर्यटक नहीं हैं, वे अवसर खोजकर निकले तीर्थयात्री हैं। भारतीय परंपरा में तीर्थयात्रा का अपना विधान है। राजेश व्यास तीर्थ यात्रा के नियमों का यथासंभव पालन करते चलते हैं। इनके यहां कहीं जाकर केवल देखना पर्याप्त नहीं है, यहां जाकर अपने आपको सराबोर कर लेना है। जहां गए, वहां स्वयं को यदि सराबोर नहीं किया, तो फिर वहां जाने का क्या लाभ? जल है, तो स्पर्श-स्नान भी होगा और मंदिर है, तो दर्शन-पूजन भी, अर्पण भी और तर्पण भी। इस यात्रा वृत्तांत संग्रह की सबसे बड़ी सात्विक विशेषता यह है कि यात्रा में जहां कहीं भी महादेव शिव मिलते हैं, राजेश व्यास उन पर जल अवश्य अर्पित करते हैं और अभिभूत होते हैं। उनका प्रेम न केवल शिव के प्रति, बल्कि पूरी यात्रा और यात्रा स्थल के प्रति उमड़ पड़ता है। यह सारी भाव भंगिमा और उसकी व्यंजना राजेश व्यास के यात्रा वृत्तांत में मुखर होकर निखर आती है। यह यात्रा वृत्तांतों के समकालीन लेखन में दुर्लभ है।

हमारी संस्कृति कहती है कि हर चीज या हर बात का एक देवता होता है। वाकई 'नर्मदे हर' यात्रा वृत्तांत नाम की जो यह पुस्तक है, उसके भी देवता हैं-महादेव शिव। कई बार तो ऐसा लगता है कि शिव को खोजते हुए ही यह पुस्तक लिखी गई है। सदैव शिव सूचना को आकुल राजेश व्यास को कोई भी बता देता है, तो अल्पज्ञात स्थान पर वे शिव को खोजते पहुंच जाते हैं। उनका यह पहुंचना कहीं भी निरर्थक नहीं जाता। यात्रा सार्थक हो जाती है, क्योंकि वे न केवल स्वयं धन्य हो जाते हैं, अपितु अपने पाठकों को भी धन्य कर देते हैं। भारतीय परंपरा में थोड़ी-थोड़ी दूर पर शिव की उपस्थिति है, वे संस्कृति के सबसे सहज देवता हैं, आध्यात्मिक हैं, तो बहुत कलात्मक भी, बहुत शक्तिशाली हैं, तो बहुत भोले और दयावान भी हैं। राजेश व्यास कहीं भी शिव चर्चा या शिव प्रशंसा से वंचित नहीं रहते। जहां कहीं भी वे शिव को खोज निकालते हैं, तो उनकी खुशी दोहरी हो जाती है और जो उनके यात्रा वृत्तांत में झलक आती है। इस अर्थ में उनकी यात्राएं श्रद्धा का सृजन करती हैं। आस्था का विस्तार करती हैं। इन यात्रा वृत्तांतों को पढ़ते हुए कई बार अनायास ऐसा लगता है कि राजेश व्यास कोई सामान्य सांसारिक यात्री नहीं हैं, वे साधु-यात्री हैं। वे जहां जाते हैं, प्रेम से रम जाते हैं, लेकिन जल्द ही उनका सांसारिक कर्तव्य उन्हें खींच लाता है। उनकी यात्राओं में जहां जाऊं, वहीं रह जाऊं का भाव बार-बार उभरता है। उनके यहां अवसर या समय निकालकर यात्रा का हठ या प्रयास भी बहुत प्रेरित करता है। वह यह अहसास भी करा देते हैं कि वे निठल्ले नहीं हैं, उनके पास कई दूसरे काम हैं, लेकिन इस बीच ही यात्राओं को भी संपन्न होना है।

अपने हर शानदार पड़ाव पर वे सुबह को निहारना सुनिश्चित

करते हैं, जैसे दार्जिलिंग के टाइगर हिल से सुबह को निहारना और उसके पहले की पूरी बेचैनी को वह पूरे सिनेमा की तरह रच डालते हैं। वहां सुबह से पहले ही लिफ्ट मांगकर टाइगर हिल पहुंचती चाय-कॉफी वाली लड़कियां भी हैं और देर रात से ही वहां शानदार सुबह देखने के लिए बैठे लोग भी हैं और ऐसे में जब भोर होती है, तो राजेश व्यास मशहूर चित्रकार राजा रवि वर्मा के चित्रों की रंग संपन्नता को याद करते हुए लिखते हैं, 'अंधकार जा रहा है, प्रकाश आ रहा है।... शिव हो रहा है मन। समग्रता को पाने का भाव ही तो है शिव! अंधकार का वस्त्र हटा पहाड़ की चोटियां प्रकृति का मधुर छंद बन गई हैं।' बेशक, सुबह जब आपकी होती है, तो आगे का पूरा दिन कोई आपसे छीन नहीं सकता। वे ऐसे लगनशील सजग यात्री हैं, जो सुबह ही यात्रा पर निकल पड़ते हैं।

उनकी यात्राओं में केवल सुबह ही नहीं, सुबह की प्रतीक्षा के वृत्तांत भी अद्भुत हैं। बाहर अंधेरा है और राजेश व्यास आपको अपने मन की यात्रा करा रहे हैं, जिसमें कभी उनके साथ शंकराचार्य हैं, तो कभी गुलजार। वे अमरकंटक में सुबह की प्रतीक्षा कर रहे हैं और रात का वर्णन करते गुलजार की पंक्तियों का उद्धरण दे रहे हैं, 'रोज अकेली आए, रोज अकेली जाए। चांद कटोरा लिए भिखारन रात।' ...लगता है रात ही भिखारन नहीं है। मैं भी हूं। शिव के दर्शन, नर्मदा से भेंट की तलाश में ही तो पहुंचा हूं यहां अमरकंटक। नर्मदा के उद्गम स्थल।... सोचते ही सोचते नर्मदा तट पर पहुंच जाता हूं। आदि शंकराचार्य के लिखे नर्मदाष्टक की पंक्तियां याद कर प्रणाम करता हूं, त्वदीय पादपंकजम्नमामि देवि नर्मदे।'

वे अपने पड़ावों का भूगोल, इतिहास, वर्तमान सबकुछ खंगालते चलते हैं, किंतु इसमें सबसे विशेष है उस स्थान से जुड़े भारतीय शास्त्र व उसके चिंतन को खंगालना, जैसे सोने पर सुहागा। शास्त्र को खंगालते हुए अपनी यात्राओं को वे अति विशिष्ट बना देते हैं। महर्षि कपिल का स्मरण कराते कपिलधारा जलप्रपात के निकट का एक उदाहरण देखिए, 'सांख्य दर्शन में जगत की उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारणों पर गहराई से मंथन किया गया है। सोचता हूं, प्रकृति प्रत्यक्षगम्य कहां है! चराचर सृष्टि को गढने वाले पंचभूत तत्वों क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर में सबका अपना विशिष्ट गुण है। आकाश का गुण है शब्द। वायु का गुण शब्द और स्पर्श दोनों हैं। रूप, स्पर्श और शब्द से अग्नि और रस, रूप, स्पर्श से होता है जल का आविर्भाव। जल में चारों ही गुण होते हैं-रस, रूप, स्पर्श और शब्द। पंचभूत तत्वों से बनी है पृथ्वी।'

राजेश व्यास का पिछला चर्चित यात्रा वृत्तांत 'कश्मीर से कन्याकुमारी', जो नेशनल बुक ट्रस्ट से ही प्रकाशित हुआ था, उस पुस्तक से कई पैमानों पर बहुत समृद्ध और रोचक है वर्तमान पुस्तक 'नर्मदे हर'। यहां यात्रा और देखने का अनुभव इतना समृद्ध रूप से सामने आता है कि लगता है ऐसी यात्राओं

राजेश व्यास का पिछला चर्चित यात्रा वृत्तांत 'कश्मीर से कन्याकुमारी', जो नेशनल बुक ट्रस्ट से ही प्रकाशित हुआ था, उस पुस्तक से कई पैमानों पर बहुत समृद्ध और रोचक है वर्तमान पुस्तक 'नर्मदे हर'।

को सतत रहते हुए सतत परिक्रमाओं में परिवर्तित हो जाना चाहिए। वाकई राजेश व्यास की यात्राएं वस्तुतः परिक्रमा ही हैं। शिव परिक्रमा, आस्था परिक्रमा, प्रकृति-प्रेम परिक्रमा। वे लेखन में भी जपते चलते हैं-नर्मदा के कंकर, सब शिवशंकर।

इस यात्रा वृत्तांत की एक और विशेषता यह है कि इसमें पग-पग पर कथाएं हैं। खूब चर्चित कथाओं से लेकर अल्पज्ञात कथाओं तक। स्थानों के नामकरण की कथाएं भी खूब हैं। यात्रा मार्ग पर जो भी महत्वपूर्ण कथाएं प्रस्तुत होती हैं, उन सभी को राजेश व्यास बखूबी समेटते चलते हैं। ठीक ऐसी ही है सोन और नर्मदा की रोचक कथा। कभी दोनों का विवाह तय हो गया था, किंतु सोन तो नर्मदा की दासी जुहिला के साथ ही प्रेमरत हो गया। यह देख नर्मदा क्रोधित हो गई, वह पश्चिम की ओर निकल पड़ी और सोन पूरब की ओर। दोनों नदियां निकलीं एक ही जगह से, किंतु भिन्न-भिन्न दिशा में बढ़ चलीं, फिर कभी न मिलने के लिए।

यह यात्रा वृत्तांत यादगार है जो इन जगहों की यात्राओं पर न गया हो, वह भी असंतुष्ट नहीं होता, बल्कि उसे यात्रा वृत्तांत पढ़कर संतोष होता है। ये यात्राएं संपूर्णता का अहसास कराती हैं। निहारना सिखाती हैं। तीर्थाटन सिखाती हैं। ज्ञान देती हैं। सूचनाओं से समृद्ध बनाती हैं। सुधरने का पाठ भी पढ़ाती हैं। ऐसे उदासीन, असभ्य लोगों को भी अपने वृत्तांत में दर्ज करती है, जो तीर्थस्थलों को गंदा भी करते हैं और गंदगी का रोना भी रोते हैं। इस अर्थ में यदि हम देखें, तो ये यात्राएं हमें अच्छा नागरिक या अच्छा मनुष्य बनाने का प्रयास करती हैं। इस पुस्तक में राजेश व्यास ने कुछ भी छिपाया नहीं है। उन्होंने यात्रा वृत्तांत लेखन की अपनी कला पर भी प्रकाश डाला है। पुस्तक के पुरोवाक् में उन्होंने लिखा है, 'बरसों पहले कहीं पढ़ा था, जो देखना जानता है, वही प्यार कर सकता है। यात्राओं के दौरान यह पढ़ा निरंतर मन में कौंधता रहता है। हम जितना देखते हैं, जानने का प्रयास करते हैं स्थानों से, लोगों से प्यार और बढ़ता चला जाता है।'

अमरकंटक, नर्मदा, खजुराहो, केन, जटाशंकर, उज्जैन, ग्वालियर, अयोध्या, त्रिपुरा, काशी, हरिद्वार, भरतपुर, दादू धाम, भानगढ़, भोरमदेव, कुशीनारा, गोरखनाथ, जैसलमेर, अमोल, दार्जिलिंग इत्यादि स्थानों की ये यात्राएं अविस्मरणीय हैं। वृत्तांत कहीं भी बोझिल नहीं हैं। छोटे-छोटे वाक्यों के साथ सुलझी हुई शैली में सु-संपादित यात्रा वृत्तांतों में एक और विशेषता यह है कि राजेश व्यास जहां जाते हैं, वहीं के हो जाते हैं अर्थात वे हर स्थान की सार्थकता को शास्त्र, तर्क, तथ्य से सिद्ध करने लगते हैं। उनकी पवित्र प्रेम दृष्टि खजुराहो की मूर्तियों के महत्व को स्थापित करने लगती है। वे सिद्ध कर देते हैं कि खजुराहो में पूर्वज कलाकारों ने जो मूर्तियां उकेरी हैं, वह कोई इकहरा काम नहीं है। ये मूर्तियां विभिन्न कलाओं का मिलाजुला रूप हैं। मूर्तियां नहीं, रूपबंध। बहिर्मुखी नहीं, अंतर्मुखी। कौन-सी वस्तु या कौन-सा स्थान किसलिए किस देवता या किस मनुष्य ने बनाया, इसकी पड़ताल राजेश व्यास सफलतापूर्वक ऐसे करते हैं कि उनका यह यात्रा वृत्तांत यात्रा की सात्विक आवश्यकता को जागृत कर देता है। खजुराहो को देखने और समझने की सही सकारात्मक सुविधा का लेखक ने बखूबी विस्तार किया है। खजुराहो सदा एक ऐसी जगह रहेगा, जो विभिन्न विचारधाराओं और विचारकों को निष्कर्ष निकालने का अवसर देगा, लेकिन खजुराहो की पृष्ठभूमि में जो समृद्ध कला संसार या कला दृष्टि है, उसे बचाने और सही संदर्भों में समझने के लिए राजेश व्यास जैसे यात्री की बहुत जरूरत पड़ेगी। ऐसी यात्राएं अब दुर्लभ होने लगी हैं, जो पाठकों को केवल पर्यटन-ज्ञान तक नहीं समेटतीं, बल्कि पर्यटन के पार व्यापक यात्रा उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं। इन यात्राओं का अपना प्रसाद है, जो राजेश व्यास बहुत प्यार से वितरित करते हैं। इस पुस्तक में राजेश व्यास के ही कैमरे से निकले 40 नयनाभिराम फोटोचित्र भी हैं, जो इस पुस्तक की उपलब्धि हैं। ये फोटो चित्र भी लेखक की दृष्टि का एक आयाम प्रस्तुत करते हैं और यात्राओं को ज्यादा मजबूती से दर्ज करने में सहायक सिद्ध होते हैं। यह हाल के वर्षों में लिखी गई यात्रा पुस्तकों में एक श्रेष्ठतम पुस्तक है। इस पुस्तक ने राजेश व्यास को यात्राओं का एक ऐसा विशिष्ट लेखक बना दिया है कि उनकी आगामी यात्राओं की पाठक प्रतीक्षा करेंगे।

कहानी

विलक्षण अनुभव की कहानियां

स्वप्निल श्रीवास्तव

कवि-कथाकार

संपर्क :
510, अवधपुरी कालोनी,
अमानीगंज
फैजाबाद -224001 (उ. प्र.)
मो. 9415332326

स्टीफन स्वाइग की कलम का जादू ही ऐसा है कि कोई भी पाठक उनकी गिरफ्त में आ सकता है। स्वाइग की कहानियां हमें अनुभव के अनोखे संसार में ले जाती है और हमें ऐसे पात्रों से हमारा परिचय कराती है, जो कहानी की दुनिया में विरल है। उनके कहानियों की संरचना सघन है। वहां कुछ भी फालतू नहीं लगता।

स्टीफन स्वाइग का नाम हिंदी के गंभीर पाठकों के लिए नया नहीं है। जिन्होंने स्वाइग को पढ़ा है वे जानते हैं कि स्वाइग विश्व साहित्य के प्रथम पंक्ति के लेखक हैं। उनका लेखन सामान्य स्थिति में लिखा गया लेखन नहीं है, बल्कि उसके पीछे एक गहरी यंत्रणा है, जो उनकी कहानियों में दिखाई देती है। उनको पढ़ कर हम जान सकते हैं कि लिखना एक यातना से गुजरना होता है। लिखना कोई सुविधाजनक काम नहीं है। उसके लिए आग की दरिया से गुजरना पड़ता है। स्वाइग की कहानियों को पढ़ते हुए यह भाव हमारे साथ चलता रहता है।

स्टीफन स्वाइग का जन्म आस्ट्रिया की राजधानी वियना में 28 नवंबर 1881 को एक यहूदी परिवार में हुआ था। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका और हिटलर के अत्याचारों और हिंसा को झेला है। वे हिटलर के फासीवाद के शिकार हुए। कई बार विस्थापित और दरबदर हुए। इसके त्रासद विवरण उनकी रचनाओं में सहज मिलते हैं। हिटलर ने जिस राष्ट्रवाद की स्थापना का स्वप्न देखा था, उसमें यहूदी समाज के लिए कोई जगह नहीं थी। इस जाति के उन्मूलन के लिए हिटलर ने जिस तरह की हिंसा की, उसकी बर्बरता को देख कर हमारी रूह फना हो जाती है। जीवन की इसी भयावह परिस्थितियों में स्वाइग का रचनात्मक विकास हुआ। उनके जीवन-संघर्ष को जानने के लिए उनकी आत्मकथा - 'दी वर्ल्ड ऑफ यसटर्डे' को पढ़ना बेहद दिलचस्प होगा। इस कृति का अनुवाद ओमा शर्मा ने - 'वो गुजरा जमाना' के नाम से किया है। यह आत्मकथा उनकी कहानियों को जानने में हमें मदद करती है। ओमा शर्मा ने स्वाइग साहित्य का गहन अध्ययन किया है। उन्होंने वियना की यात्रा की है। 'अंतर यात्राएंः वाया वियना' नाम से उनकी किताब भी काबिले-गौर है।

इस संग्रह में स्टीफन स्वाइग की सात कहानियां संकलित हैं। सभी कहानियां विलक्षण हैं और चुनाव उम्दा है। सबसे पहले मेरा सामना उनकी कहानी- 'अनजान औरत का खत' से हुआ था। इस कहानी को पढ़कर मैं चकित हो गया था। यह एक अनूठी कहानी है। यह अतिश्योक्ति नहीं होगी, यदि यह कहा जाए कि इस कहानी का शुमार विश्व की अन्यतम कथाओं में किया जा सकता है। पश्चिम की दुनिया में इस तरह का प्रेम-प्रसंग दुर्लभ है। यह एक स्त्री की कहानी है जो तेरह साल की नाजुक उम्र में एक लेखक के प्रेम में पड़ जाती है। वह उस लेखक के बच्चे की मां बन जाती है लेकिन इस रहस्य को लेखक के लिए जाहिर नहीं करती है। वह नहीं चाहती कि उसका लेखन बाधित हो। इस घटना के पंद्रह साल बाद जब उसका बच्चा मर जाता है, वह लेखक को एक लंबा खत लिखती है। इस कहानी का एक अंश देखें... एक मृतक औरत कुछ नही मांगती, न प्यार, न रहम, न दिलासा। मैं तुमसे सिर्फ एक चीज मांगती हूं कि तुम उन सारी चीजों के दर्द में यकीन करो जो मैं तुम्हें बताने जा रही हूं ... एक मां अपने मरे हुए बच्चे को सामने झूठ नहीं बोलती।

कथा का यह अंश इस कहानी का मूल वाक्य है। यह कहानी अपने विवरणों में इतनी मार्मिक है कि इसे ठहर-ठहरकर पढ़ना पड़ता है। यह सोचकर हैरत होती है कि एक स्त्री का प्रेम उदात्तता की सारी हदों को पार कर जाता है। इस खामोश प्रेम को समझना

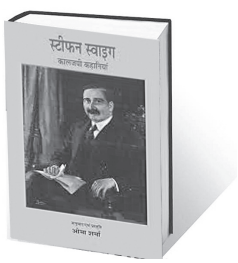

पुस्तक : स्टीफन स्वाइगः कालजयी कहानियां
लेखक : स्टीफन स्वाइग
अंग्रेजी से अनुवादः ओमा शर्मा
प्रकाशकः आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
प्रकाशन वर्षः 2019
पृष्ठ : 308
मूल्य : ₹ 295

आसान नहीं होगा। इस प्रेम में कोई प्रदर्शन और प्रतिदान जैसी कोई चीज नहीं है।

स्वाइग की कहानी 'बर्निंग सीक्रेट' अभिजात्य वर्ग के छैल छबीले नायक की है जो स्त्रियों का शिकार करता रहता है। यह उस प्रजाति का वर्ग-चरित्र है जो स्त्रियों को उपभोग सामग्री समझता है। उसकी मुलाकात एक अधेड़ स्त्री से होती है, जिसके साथ ग्यारह साल का बच्चा एडलर है। उस स्त्री के पास पहुंचने के लिए वह उस लड़के से दोस्ती करता है। वे दोनों बच्चे को धोखा देकर प्रेम-प्रसंग घटित करते हैं। वे इस बात से अनजान हैं कि बच्चा कुछ भी नहीं समझता। दरअसल बच्चे की नजर उनकी कारस्तानी पर लगी रहती है। लेखक ने बच्चे के मनोविज्ञान को पकड़ने की कोशिश की है। बच्चा एडलर इस स्थिति का सामना नहीं कर पाता और वहां से भाग खड़ा हो जाता है। वह अपने बटुए से जन्मदिन के अवसर पर मिला हुआ सोने का सिक्का खोज निकालता है और उसी के दम से नानी तक पहुंचने की यात्रा करता है। उसके यात्रा विवरण बेहद रोचक हैं। वह अजीब सी मनःस्थिति में है। स्वाइग ने बच्चे के मनोभाव को महारत के साथ व्यक्त किया है। स्वाइग कथा के साथ उपकथा और कथा के वातावरण को बहुत अपनापे के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें रोमांच का भाव उपस्थित रहता है

एडलर से भागने की वजह पूछी जाती है। वह असली वजह को छुपा ले जाता है। ऐसा उसे अपनी मां की आंखों से पता लग जाता है। इस प्रकरण पर कहानी का एक अंश पढ़े- 'बच्चे का दिल नर्मी से भर गया। वह समझ गया कि वह उससे उनके राज को राज रखने की पुकार कर रही है। उसे बड़ा गर्व और खुशी महसूस हुई कि वह उनके लिए कुछ करने लायक हो गया है।' उसने खुद को संभाला और कहा - 'नहीं डैड! मुझे तो वहां बहुत मजा आया। मम्मी ने मेरा बहुत ध्यान रखा, लेकिन अचानक ही मुझे लगा कि कुछ नटखट हरकत करूं। इसलिए भाग आया।'

यह कहानी हमें बताती है कि बच्चे बड़ों से ज्यादा जहीन होते हैं। हम उन्हें बच्चा समझने की भूल करते हैं। वड्र्सवर्थ ने गलत नहीं कहा था कि 'चाइल्ड इज फादर ऑफ मैन।'

स्टीफन स्वाइग की कलम का जादू ही ऐसा है कि कोई भी पाठक उनकी गिरफ्त में आ सकता है। स्वाइग की कहानियां

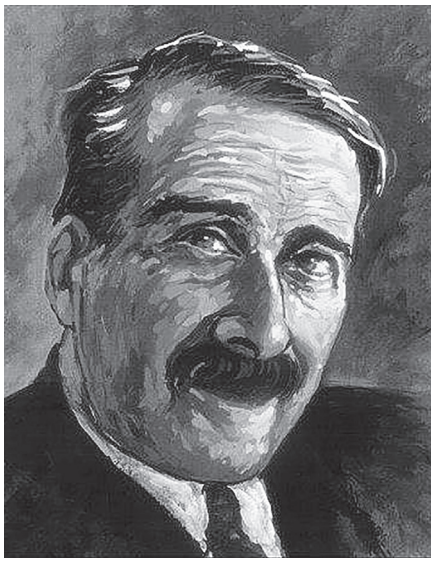

स्टीफन स्वाइग की कहानियां पढ़ते समय यह ख्याल आता है कि उनकी तीन कहानियों-एक अनजान औरत का खत, भगोड़ा, बदहवास के पात्र किसी न किसी तरह मृत्यु के ग्रास बनते हैं। क्या उनकी कहानियों में मृत्यु एक सच है या यह सब भटकन, विस्थापन या हताशा का परिणाम है।

हमें अनुभव के अनोखे संसार में ले जाती हैं और हमें ऐसे पात्रों से हमारा परिचय कराती हैं, जो कहानी की दुनिया में विरल है। उनके कहानियों की संरचना सघन है। वहां कुछ भी फालतू नहीं लगता। वे अपने गुंफन में पूर्ण है। अच्छी कहानियों की यही खूबी है, वे हमें अवकाश नहीं देतीं। उनकी अविरलता बनी रहती है। एक बार कहानी पढ़ना शुरू किया तो अंत तक पढ़ने का आकर्षण बना रहता है। यह हुनर स्वाइग की हर कहानी में देखने को मिलता है।

उनकी कहानी-'अदृश्य' संग्रह की कथा एक यहूदी बूढ़े क्रोनबेल्ट के आसपास घूमती है। वह दुर्लभ कलाकृतियों का संरक्षणकर्ता है। यह काम वह पागलपन के हद तक करता है। कलाकृतियों में उसकी आत्मा का वास है। निशानेबाजी की एक दुर्घटना में उसकी आंख चली जाती है। यह कहानी प्रथम विश्व युद्ध के बाद आई भीषण मंहगाई के दौरान लिखी गई थी जब आर्थिक दबाव परिवारिक व्यवस्था को तोड़-फोड़ कर रख देता है। क्रोनबेल्ट का परिवार इस विपत्ति से अछूता नहीं है। जीवन-यापन के लिए उसके परिवार को कलाकृतियां बेचनी पड़ती है लेकिन यह सब उसकी नजर से बचा कर किया जाता है। इस कारोबार में परिवार को क्रोनबेल्ट के अंधा होने का फायदा उठाया जाता है। कलाकृतियों की खाली जगहों को उसी की मोटाई के कागज और आकार से जड़ दिया जाता है ताकि उसे छूते समय इसका एहसास बना रहे कि कलाकृतियां अपने फ्रेम में मौजूद हैं। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि जिन कलाकृतियों में क्रोनबेल्ट के प्राण बसते थे, वे बेचे जा चुके हैं। स्वाइग का वर्णन देखिए, इसमें कितनी करुणा और असहायता का भाव है। ...मैं आपके हाथ जोड़ती हूं, उसकी आवाज रूंध गई-उनका भ्रम न टूटे, उनके यकीन को ठेस न लगे कि जिस खजाने का बखान वे आपसे करेंगे, उसे आप देख रहे हैं। इस नुकसान का इल्म उन्हें बरदाश्त नहीं होगा ...यही उनकी जिंदगी और खुशियां हैं। रोशनी जाने के बाद से आज का दिन उनके लिए सबसे खुशी का होगा।

यह इस कहानी का सबसे हृदयविदारक दृश्य है। स्वाइग की कहानियां हमारे दिमाग को नहीं बल्कि दिल को छूती हैं। ये कहानियां काल्पनिक नहीं लगतीं। इसके बीज उस यहूदी समाज में है जिसे हिटलर ने पूरी तरह से ध्वस्त करने का काम किया था। स्वाइग की कहानियों में जीवन की बिडंबनाओं के अनेक रूप मिलते हैं। जीवन इतना कठिन है, इसमें हमारे शगल के लिए कोई जगह नहीं है। इस दुख को युद्धकालीन या उसके बाद का समाज सबसे ज्यादा झेलता है। हम इस संदर्भ में अपने देश के विभाजन की त्रासदी को देख सकते हैं, जिसके घाव अब तक ताजा हैं। युद्ध जिनके लिए खेल है वे भी इस विभीषिका से नहीं बच पाते। तानाशाह सबसे बुरी मौत मरते हैं। हिटलर को आत्महत्या करनी पड़ी लेकिन जब तक वह जीवित था, उसके पास जग जीतने का नशा था। युद्धकालीन दौर में लिखी गई कहानियों के तथ्य हमें बताते हैं कि युद्ध ने मानवता को सर्वाधिक नष्ट किया है। उससे जो शून्य पैदा हुआ है उसकी भरपाई नहीं हो सकी है। युद्ध से केवल मौत

नहीं मिलती, उससे विस्थापन का आजीवन दर्द मिलता है। तानाशाह युद्ध इजाद करते रहते हैं। वे हमारी सामूहिकता को नष्ट करते रहते हैं। स्वाइग की आत्मकथा पढ़ी जाए या कहानियां, उसमें युद्ध के दारुण प्रसंग आते रहते हैं। इसका उदाहरण उनकी कहानी 'भगौड़ा' है। इस कहानी में जिनेवा की झील में नाव खेते हुए एक मछुवारे को एक आदमी मिलता है, जो पैडल चलाते हुए बेहोश स्थिति में हो गया है। उसे देखने के लिए तमाशाइयों की भीड़ इकट्ठी हो गई है। उसे लेकर लोगों के मन में अनेक तरह के प्रश्न हैं। लोग उसे लेकर कई तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, जिससे लोगों के दृष्टिकोण का पता चलता है। किसी को उसे देखकर दया आती है, कोई उसे संदेह की नजर से देखता है। इस कहानी में जो सवाल उठते हैं, वह इस कहानी की जान है। वह सैनिक अपने घर पहुंचना चाहता है। क्या यह उसके लिए संभव है। क्या सरहदें उसे घर पहुंचने की इजाजत दे सकती हैं? एक संवाद देखें - बोरिस, तुम अभी ऐसा नहीं कर सकते हो ... घर से पहले तुम्हें एक और सरहद पार करनी होगी। ...एक सरहद? कहकर वह बेचैन हो उठा। क्या बला होती है ये सरहद?

फिर किसी अभूतपूर्व शिद्दत से उसने पूछा, मैं तैरकर तो जा सकता हूं... बोरिस, तुम ये सब नहीं कर पाओगे ... सरहद का मतलब होता है एक दूसरा देश ... जो लोग वहां रहते हैं, तुम्हे वहां से होकर जाने नहीं देंगे। लेकिन मैं उन्हें कोई नुकसान तो पहुंचाने से रहा। मैं तो अपनी रायफल भी फेंक चुका हूं... फिर मुझे अपनी पत्नी के पास पहुंचने से वे क्यों मना करेंगे ... मैं ईसा के नाम पर उनसे भीख मांग लूंगा।

इस कहानी का अंत बहुत दुखद है। जहां से उसे बचाया गया था, वहीं उसका शव मिलता है।

स्टीफन स्वाइग की कहानियों का उत्कर्ष देखना हो तो इस संकलन की दो कहानियां 'बदहवास' और 'खेल शतरंज का' को जरूर पढ़ा जाना चाहिए। यह स्वाइग की कथा-प्रतिभा से हमें परिचित कराती है। अनुवादक ने 'खेल शतरंज का' को स्वाइग की अंतिम कहानी माना है। दोनों कहानियां अपने आप में अद्वितीय हैं। यह 'एक अनजान औरत का खत' से अलग कहानियां हैं। ये कहानियां यथार्थपरक और अपनी तफ्सीलों में एकदम जुदा हैं। स्वाइग के रचना-संसार के विविध आयाम

स्टीफन स्वाइग की कहानियों के अनुवादक ओमा शर्मा ने जिस तरह का स्वभाविक अनुवाद किया है, वह अद्भुत है। अनुवाद केवल शाब्दिक नहीं होते हैं उसकी भाषा और लय को पकड़ना पड़ता है।

हैं। हर कहानी अपने आप में स्वायत्त है। उसके अनुभव अलग-अलग हैं। मसलन उनकी कहानी-'बदहवास' जावा में रह रहे एक चिकित्सक के जीवन-वृतांत को प्रस्तुत करती है, जो अपने शोध के लिए विख्यात है। वह जावा के ग्रामीण इलाके में रहता है। वह तबीयत से थोड़ा अराजक है। उसके जीवन में विचित्र घटनाएं घटित होती हैं। उसकी कहानी जहाज के डेक से फ्लैश बैक में शुरू होती है, जिसे वह एक सहयात्री से साझा करता है।

जावा में उसकी मुलाकात एक पर्दानशीन औरत से होती है। वह अंग्रेज है, उसका पति डच का अमीर आदमी है। वह इस कहानी में उपस्थित नहीं है। उस नकाबशुदा औरत का संबंध किसी से हो जाता है और वह अपने गर्भपात के लिए डॉक्टर के पास पहुंचती है। उसकी आंगिक भाषा और संवाद उस स्त्री के व्यवहार को संदेहास्पद बना देते हैं। डॉक्टर की रुचि उसमें बढ़ने लगती है। इस कहानी में रहस्य और रोमांच के तत्वों का भरपूर इस्तेमाल किया गया है। औरत तुनकमिजाज है, जैसा कि कुलीन वर्ग की औरतों में अकसर पाया जाता है। वह डॉक्टर को अच्छी कीमत देने के लिए तैयार है लेकिन डॉक्टर उसके एवज में कुछ और पाने की इच्छा रखता है अतः किसी एक बात पर सहमति नहीं बन पाती है। वह नाटकीय ढंग से भाग खड़ी होती है। इस कहानी के संवाद नाटकीय हैं और बुनावट गझिन है। यह कहानी लंबी है लेकिन पढ़ते समय कौतूहल होता है। यह कौतूहल इस कहानी की जान है।

किसी लेखक के लिए लंबी कहानी लिखना किसी चुनौती से कम नहीं है। इसके लिए धैर्य की जरूरत होती है। स्वाइग ने लंबी कहानियां लिखी हैं उसमें कहीं झोल नहीं है। घटनाएं एक दूसरे से गुथी हुई हैं वे कहानी के आख्यान का हिस्सा हैं। स्वाइग की एक अन्य विशेषता है, वह कहानी के वातावरण का ध्यान रखते हैं।

इस कहानी के अंत के हिस्से महत्वपूर्ण हैं। कथा के अंत भाग में डॉक्टर उस औरत की खोज में निकल पड़ता है। वह सब कुछ छोड़कर एक होटल में पनाह लेता है। उसे पछतावा है कि वह उस औरत के लिए कुछ नहीं कर सका। वह डॉक्टर का फर्ज भूल गया है। उसकी आत्मस्वीकृतियां अद्भुत हैं। डॉक्टर होने के नाते मैंने ऐसा बहुत बार देखा था और चिकित्सकीय मौतों का अध्ययन किया था लेकिन एक दफा मैंने मौत को भरपूर महसूस किया। केवल एक बार मैं किसी दूसरे के साथ जिया और दूसरे के साथ मरा हूं।

पर्दानशीन महिला ब्लैक का गर्भपात किसी चीनी दाई के द्वारा किया गया था। डॉक्टर ने उसे भरपूर बचाने की कोशिश की थी लेकिन वह असफल रहा। बीच-बीच में कई घटनाएं होती रहीं। मैडम ब्लैक का शव ताबूत रखा जाता है जिसे उसका पति पानी के जहाज से ले जाता है। इस कहानी का अंतिम वाक्य देखें - 'अखबार के दूसरे हिस्से में एक छोटा नोटिस था जिसमें बताया गया था कि लगभग पैंतीस साल के एक अनजान आदमी की लाश नाप्लीस बंदरगाह के पानी से निकाली गई। उसके सिर में गोली का घाव था। किसी ने भी इस बात को उस हादसे से नहीं जोड़ा जो ताबूत को उतारते वक्त हुआ था।'

अनुवादक ने लिखा है-'खेल शतरंज

का' कहानी में समय का संदर्भ महसूस किया जा सकता है। सन् 1932 में जर्मनी में हिटलर के सत्ता संभालने के बाद पूरे जर्मन प्रांत में निजी आजादी का जो हनन-स्खलन होना शुरू हुआ, उसकी एक तस्वीर कहानी में सहज देखी जा सकती है कि किस तरह पूरे तंत्र में नाजियों का कब्जा हो गया, हर किसी पर निगाह रखी जाने लगी थी।

इस कहानी का नायक मिर्के है, जो मंद बुद्धि है लेकिन शतरंज के खेल में माहिर है। 17 वर्ष की उम्र में वह कई पुरस्कार जीतता है। 18 की वय में उसे हंगरी का खिताब मिल जाता है। इन सबके बावजूद वह सस्ते होटल में ठहरता है और मामूली ढंग से रहता है। मिर्के और जेंटोविक के बीच में शतरंज की बिसात बिछती रहती है।

स्वाइग ने इस कहानी में शतरंज के खेल के बारीक ब्यौरे प्रस्तुत किए हैं। उनकी आंगिक भाषा और मूड्स को पकड़ने की कोशिश की है। शतरंज मूल रूप से दिमागी खेल है। यह खेल राजाओं-महाराजाओं के दरबार या हरम में खेला जाता है। उसकी अपनी अंतरिम दुनिया और रहस्य है। इस कहानी के बहाने स्वाइग ने अपनी मनःस्थिति को प्रकट किया है। इस कहानी में कुछ दार्शनिक टिप्पणियां कबिले-गौर हैं... मैं कभी खुद को इस लायक नहीं समझा कि फकत वक्त काटने के सिवाय मेरे लिए शतरंज की कोई वजह हो सकती है। अगर मैं कभी घंटे भर इसमें आजमाइश करता हूं तो इसलिए नहीं करता कि अपने दिमाग की नसें तड़काऊ; उल्टे, मैं मानसिक तनाव से राहत के खातिर ही कभी करता हूं। ... प्यार की तरह शतरंज भी अकेले नहीं खेला जा सकता है।

इस कहानी में डाक बी का चरित्र यादगार है, जिसमें स्वाइग का चेहरा दिखाई देता है। उनका कथन देखिए - 'मैं सोचता हूं कि तुम उम्मीद करते होगे कि मैं तुम्हें उस यातना शिविर के बारे में बताऊंगा जिनमें पुराने आस्ट्रियाई मूल्यों में यकीन करने वाले सभी लोगों को ठूंस दिया जाता था ... वहां की शहादतें, या जो मुसीबतें मैंने वहां झेली हैं।'

हमारे अनुभव हमें बताते हैं कि लेखक जो कुछ भी लिखता है, वह पूंजी उसे अपने जीवन से ही मिलती है। लेखक अपने जीवन के अनुभव को अपने लिखने में व्यक्त करते हैं। अपने अनुभव को पुष्ट करने के लिए वे थोड़ा कल्पना का सहारा लेते हैं। दुनिया की मशहूर किताबें लेखक के अनुभव का परिणाम हैं। स्टीफन स्वाइग को पढ़ते हुए हम इस बात को महसूस कर सकते हैं। इस लेखकीय अनुभव में उनकी कहानी 'किताब - शाह' को भी शामिल करते चले। यह कहानी हमें किताबों की दुनिया में ले जाती है। इस कथा का नायक जेकब मेंडल है जो किताबों की दुनिया में सांस लेता है। किताबों के प्रति उसका जुनून बेहिसाब है। उसे किताबों के अलावा कुछ नहीं सूझता। उसका शब्द चित्र देखें ...मेंडल अपनी उसी जगह आसीन था ... ऐनक चढ़ाए, दाढ़ीदार, घिसे-काले कपड़े पहने और जैसा मैंने अभी बताया ... उसी अंदाज में आगे-पीछे हिलता-डुलता। हमारी दखल उसके ध्यान के बाहर रही। पढ़ने में लीन वह मदारी-सा लग रहा था। पीछे कील पर उसका जर्जर कोट टंगा था जिसकी जेबों में पांडुलिपियां, कागज-पत्तर और किताबें ठुंसी पड़ी थीं ...। उसकी किताबों के संसार में एक दिन पुलिसिये आए और उससे पूछताछ करने लगे। पूछताछ में यह जाहिर हुआ कि वह मूल रूप से रूस का निवासी था। रूसी सैनिक सेवा से बचने के लिए तैंतीस वर्ष पहले, वह वहां की सरहद पार कर वियना में आया था। बस यही उसका जुर्म था जिसके लिए उसे कैद में रहना पड़ा फिर उसे छोड़ दिया गया। इस घटना के बाद उसके दुर्दिन शुरू हो गए। वह पहले जैसा नहीं रह गया। उसे कैफे में कोई नहीं जानता था। स्पोर्शिल नाम की भद्र महिला को उसके अंतिम दिनों की जानकारी मिली। किताबें किसी आदमी की जिंदगी में कितनी खतरनाक हो सकती है यह इस कहानी के जरिए पता लगता है। युद्धकालीन दिनों में किस तरह लोगों की पढ़े-लिखे लोगों की जिंदगियां तबाह की जाती हैं। इसके कई उदाहरण तानाशाही शासन में देखे जा सकते हैं। आपातकाल में लोगों को सच बोलने और व्यवस्था के विरोध के लिए सलाखों के भीतर कर दिया गया था, उन्हें यातनाएं दी गई थी।

स्टीफन स्वाइग का जन्म आस्ट्रिया की राजधानी वियना में 28 नवंबर 1881 को एक यहूदी परिवार में हुआ था। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका और हिटलर के अत्याचारों और हिंसा को झेला है। वे हिटलर के फासीवाद के शिकार हुए। कई बार विस्थापित और दरबदर हुए। इसके त्रासद विवरण उनकी रचनाओं में सहज मिलते हैं। उनका लेखन सामान्य स्थिति में लिखा गया लेखन नहीं है, बल्कि उसके पीछे एक गहरी यंत्रणा है, जो उनकी कहानियों में दिखाई देती है।

स्टीफन स्वाइग की कहानियां पढ़ते समय यह ख्याल आता है कि उनकी तीन कहानियों-'एक अनजान औरत का खत', 'भगोड़ा', 'बदहवास' के पात्र किसी न किसी तरह मृत्यु के ग्रास बनते हैं। क्या उनकी कहानियों में मृत्यु एक सच है या यह सब भटकन, विस्थापन या हताशा का परिणाम है? हम यह भी जानते हैं कि स्वाइग ने 23 फरवरी 1942 को अपनी दूसरी पत्नी के साथ रियो द जिनोरो के पास पेट्रोपोलिस में आत्महत्या कर ली थी। इस घटना से दुनिया का बुद्धिजीवी समाज हिल उठा था।

स्टीफन स्वाइग के अनुवादक ओमा शर्मा ने जिस तरह का स्वभाविक अनुवाद किया है, वह अद्भुत है। अनुवाद मूल रचना से भी ज्यादा दुरूह काम है। हिंदी में जेनुइन अनुवादकों की कमी है। अनुवाद केवल शाब्दिक नहीं होते हैं बल्कि उसकी भाषा और लय को पकड़ना पड़ता है। वे स्वाइग साहित्य के आधिकारिक विद्वान हैं। उन्होंने स्वाइग की रचना-भूमि की यात्राएं की है और उनके साहित्य को गहराई से समझा है। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने स्वाइग और उनके समय के बारे में जो लिखा है, वह इन कहानियों को पढ़ने और समझने में हमारी मदद करती है।

कुल मिलाकर स्वाइग की कहानियों को पढ़ना एक यातना से गुजरना भी है, यह उनकी कहानियों का आस्वाद है। पाठकों को केवल उनकी कहानियों से परिचित होने का अवसर मिलेगा वरन वे उस समय के बारे में भी जान पाएंगे, जिनके बीच में रहकर इतनी उल्लेखनीय कहानियां लिखी गई हैं। जो पाठक अच्छी कहानियों के प्रेमी हैं, उन्हें यह संकलन अवश्य पसंद आएगा। आज के दौर में इन कहानियों का एक अर्थ है।

सामासिक भारतीय समाज और उसकी भाषाएं

किशोर वासवानी

भाषाविद्

संपर्क :
28, साकेत III
वेजलपुर बाजार
पो. जीवराज पार्क
अहमदाबाद-380051
(गुजरात)
मो. 9979851770

लेखक श्रीश चौधरी लिखते हैं कि भारत में भाषा सीखने और पढ़ने की बड़ी पुरानी और जीवंत परंपरा रही है। यहां लोग सदियों से कई देशी एवं विदेशी भाषा सीखते एवं सिखाते आए हैं। इस परंपरा में आज भी ऐसा बहुत कुछ है जो किसी भाषा-शिक्षक और भाषा सीखने वालों के लिए बहुत ही उपयोगी है। इसी धारणा से प्रेरित होकर इस परंपरा के कुछ वैशिष्ट्य प्रस्तुत करने के प्रयास के निमित्त यह पुस्तक लिखी गई है।

स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुच्छेद 351 में भारत की 'सामासिक संस्कृति' (Composite Culture) का जिक्र आया है; अर्थात, वर्तमान भारत की संस्कृति, मिलीजुली/मिश्रित संस्कृति है। इस संस्कृति की जड़ों ने जिन मूल बीजों से अपने को वर्तमान रूप में पल्लवित-पुष्पित किया उनका रोपण लगभग 3500 वर्ष पूर्व हो चुका था। बाद में उसके वर्तमान रूप तक आते-आते उसमें कई और भी बीजों का रोपण होता गया। परिणामस्वरूप, 'आज का भारतीय समाज सामासिक सांस्कृतिक भाषिक रूप' में पनपा।

जाहिर है किसी देश के लिए 3500 वर्षों का इतिहास बहुत विस्तृत फलक लिए होता है और फिर यह तब और भी जटिल हो जाता है जब उसमें भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक जैसे फलकों पर, प्राकृतिक संदर्भों में कई उथल-पुथल हुए हों। इस उठा-पटक/परिवर्तन में, आरंभ से ही भाषा भी किसी न किसी रूप में मानव के साथ जुड़ी रही। इसे ध्यान में रखकर अगर हम भारतीय संदर्भों में कथित जटिल-प्रक्रिया से उपजे वर्तमान सामाजिक-भाषिक रूप का, लगभग पूरा व्यावहारिक-भाषावैज्ञानिक विवेचन सैद्धांतिक और अनुप्रयोगात्मक (Applied) तरीके से समझना चाहें तो, विद्वान मनीषी लेखक श्रीश चौधरी (आई.आई.टी. मद्रास, चेन्नई) का प्रस्तुत-समीक्ष्य श्रम-साध्य ग्रंथ (भारत में विदेशी लोग एवं विदेशी भाषाएं /समाजभाषा-वैज्ञानिक इतिहास), हमें पूरी कुशलता एवं बौद्धिकता से यह अवसर प्रदान करता है। अपने प्राक्कथन में विद्वान भास्कर राममूर्ति (निदेशक, आई.आई.टी., मद्रास) ने सही दिशा संकेत देते हुए स्पष्ट कर दिया कि 'यह एक समाज-भाषा वैज्ञानिक अध्ययन है, परंतु इसका झुकाव संपर्क में आनेवाली भाषाओं के समाज-शास्त्र पर अधिक है।' पूरे ग्रंथ का कलेवर सात अध्यायों, यथाः प्रस्तावना, 'ग्रीक हिब्रू एवं संस्कृत', 'अरबी, फारसी और तुर्की' 'अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच, और फ्रांसीसी' ईस्ट इंडिया कंपनी और भारतीय भाषाएं', ईस्ट इंडिया कंपनी और अंग्रेजी भाषा' उपसंहार; में, निश्चित वैचारिक अवधारणा के साथ रखा गया है। हम संक्षेप में, सूचनात्मक रूप से इन अध्यायों के कलेवर को देखते हैं...

प्रस्तावना में, मानवीय समाज और भाषा के अटूट संबंध को सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए समझाया गया है कि किसी समाज तथा उसकी संस्कृति को गढ़ने में भाषा की अटूट एवं अहम भूमिका रहती है। इसी मुद्दे को वैचारिक रूप से समझने के लिए हमें उसकी सामाजिक व्यवस्था तथा उसकी भाषिक यात्रा को समाज-भाषावैज्ञानिकता (Socio linguistic-ness) के आधार/संदर्भों के आलोक में समझना होगा। भारतीय संदर्भों में इसी को ध्यान में रखते हुए विद्वान लेखक ने लगभग ईसा पूर्व 1500 वर्षों से लेकर 21वीं सदी तक के प्रथम दशक (3500 वर्षों) तक के उदाहरण/भाषिक-नमूने, अलग-अलग भाषा प्रयोग-क्षेत्रों (मीडिया आदि) से लेकर, उनका भाषिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसी संदर्भ में छह जातीय तत्वों-नीग्रो, अफ्रीका के अप्रवासी; पश्चिम से आए प्रोटो-आस्ट्रालोयड; आसाम, चिटगांव की पहाड़ियों तथा भारत-बर्मा की सीमा पर बसनेवाले मंगोल; द्रविड़-भाषाएं बोलनेवाले मेदितेरेनियन; मुख्यतः बंगाल, उड़ीसा तथा आज के गुजरात के अल्पाइन, डिनैरिक एवं अर्मेनोइड/तथा/आदि वेदों में वर्णित आर्यभाषा-भाषी समूह, के आधार पर आने वाले अध्यायों के कलेवर को विस्तार से सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है; यथाः 'इन सभी कालों में भारत ने कुछ भाषाओं का प्रयोग बृहत्तर संचार के लिए किया और कई अन्य का स्थानीय एवं सीमित प्रयोग के लिए' (पृ. 17)। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आज प्रचलित 'दक्खिनी, तमिल/मुंबइया/हिंग्लिश/' आदि को उन्होंने 'पिजिन' समझने की भूल न करने की चेतावनी देते तथा इन्हें विशिष्ट भाषिक शैली मानते हुए 'पिजिनिकरण', 'क्रियोलीकरण' तथा 'देशीकरण' (PCN) की बात की और, भाषिक आधार पर, आज के भारतीय समाज की भाषिक संप्रेषणीय शैली को सोदाहरण रूप से समझाने के लिए उन्होंने ग्रीक, हिब्रू, संस्कृत, अरबी, फारसी, तुर्की, अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेजी, और स्थानीय भारतीय भाषाओं के प्राचीन और 21वीं सदी तक के प्रयोग-क्षेत्रों (मीडिया आदि) से नमूने देते हुए, विश्वसनीयता से समझाया है। इन्हीं भाषाओं के संदर्भ में प्रख्यात इतिहासकार मजूमदारजी को उद्धृत करते हुए बताया है कि भारत में आज, मुख्यतः चार भाषा परिवार : आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी, द्रविड़ तथा आर्यभाषा (वेदों में वर्णित आर्यभाषा-भाषी नार्डिक समूह)/परिवार हैं;

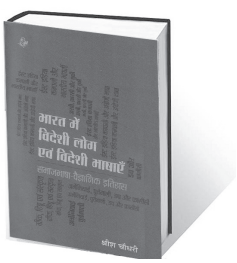

पुस्तक : भारत में विदेशी लोग एवं विदेशी भाषाएं
लेखक: श्रीश चौधरी
अनुवादक: रामाज्ञेय कुमार उपाध्याय
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 487
मूल्य : ₹ 1200

(पृ.15)। ज्ञातव्य है, इनमें, हमारी वर्तमान विभिन्न भाषाएं (179), बोलियां (544) और मातृभाषाएं (1652) आती हैं जिन्होंने, विदेशियों के आने के बाद इंडो - यूरोपियन जैसे प्रधान भाषा - वर्ग से प्रस्फुटित होकर इंडो - आर्यन और ईरानियन वर्ग के मिश्रण इंडो - ईरानियन भाषा वर्ग से आकर, आज की भारतीय भाषाओं को एक सामासिक-भाषिक आकार दिया; जिसका उल्लेख ऊपर दिया गया है। ज्ञातव्य है, हमारे संविधान की 8वीं अनुसूची में उल्लिखित 22 भाषाएं और केंद्र (संघ) तथा भारत के राज्यों की राजभाषाएं भी इन भाषा-वर्गों से ही संबंधित है, जिसके परिणामस्वरूप हमारी भाषाओं की शब्दावली और वाक्य-विन्यास भी इनसे प्रभावित हुए हैं; हिंग्लिश, मुंबइया या हैदराबादी आदि हिंदी तथा सभी भारतीय भाषाओं के मिश्रित रूप इसके समाज-भाषिक स्वरूप के जीवंत उदाहरण हैं। प्रशंसा की बात है कि इस ग्रंथ में इन सब मुद्दों पर समाजभाषा वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डालकर बाकी (छह) अध्यायों में उनका विश्लेषण किया गया है ...आइए संकेतार्थक रूप में उनका परिचय पाएं ...

ग्रीक, हिब्रू एवं संस्कृतः यह अध्याय ई.पू. 1000 से लेकर 1000 ई. (2000 वर्ष) तक के काल खंड की बात करता है; सिंधु घाटी का संदर्भ देते हुए सूचित करता है कि इस अवधि में आए विदेशियों- फीनिश, फिलिस्तीनी या हिब्रू, चीनी, पूर्व-इस्लामिक अरब-तुर्कों के आने पर, सामाजिक-भाषिक रूप कैसा रहा। साथ ही संस्कृत की क्या स्थिति रही। किस प्रकार, संस्कृत शब्द दुदुंभी है तो पूर्व-एशियाई चीनी/जापानी में क्रमशः सुजुमी/दुदुमी है। भिक्षु/भिक्षुणी; जापानी में बिकु/बिकुनी है। चीनी माध्यम और बौद्ध धर्म के कारण हमारा भाषिक आदान-प्रदान कंबोडिया, थाईलैंड, इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपींस और अन्य द्वीपों से हुआ। भारत के साथ फिलिस्तीनी/ग्रीक/हिब्रू - (फिलिस्तीनी-हिब्रू) का संबंध लगभग 2000 वर्ष ई.पू. से आज तक चला आ रहा है। इजराइल-फिलिस्तीन की भारत के साथ मित्रता जग-जाहिर है। हिब्रू के कई शब्द आधुनिक भारतीय भाषाओं मे भी मिल जाएंगे। हिब्रू गोल/ गोल/गोला, लिबास कपड़ा/लिबास आदि। ज्ञातव्य है यह, Jewish-Bible की भाषा ओल्ड टेस्टामेंट के रूप में आती है।

संस्कृत-विद्वान लेखक ने संस्कृत को लेकर लगभग 30 पृष्ठों की विश्लेषणात्मक भाषावैज्ञानिक जानकारी (विशेषकर, तुलनात्मक-शब्दवैज्ञानिक (Lexican) व्याख्या के साथ) प्रस्तुत की है। **भारतीय आर्य भाषा इंडो** - आर्यन वर्ग की इस भाषा (जिसे प्रमुख भाषाई वर्ग, इंडो-यूरोपियन/भारतीय-यूरोपीय की एक भाषा माना) का लगभग 3500 वर्षों का काल-खंड समेटा गया है। इस दिशा में पहले, तीन प्रश्न : अ. संस्कृत भारतीय भाषा है या विदेशी? ब. क्या संस्कृत कभी भी पारस्परिक

आज हिंदी के लगभग 200-300 दूरदर्शनी-चैनल करोड़ों भारतीयों को; सेल्फी, साइबर, रन, विकेट, टूनार्मेंट, वायरल (तस्वीर आदि) पोस्टर, बम, फ्लैट, कॉल सेंटर आदि पारिभाषिक शब्द धड़ल्ले से परोस रहे हैं।

संचार तथा अनुष्ठान एवं शास्त्रों के लिए प्रयोग की जानेवाली भाषा रही है?/और/ स. क्या यह कभी भी जन साधारण की भाषा रही है और क्या इसने भारत के विभिन्न क्षेत्रों को जोड़ा, जिनकी कोई अन्य संपर्क भाषा नहीं थी?, उठाए गए हैं (पृ. 71) फिर इनके, तकनीकी-भाषिक प्रश्नों के उत्तर खोजते हुए लेखक ने बहुत ही सावधानी से कई विद्वानों जैसे, मोनियर-विलियम्स (जिन्होंने आर्य भाषा के रूप में संस्कृत को बड़ी और अंग्रेजी को सबसे छोटी भाषा कहा) आदि के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। इसे लेकर; वैदिक-संस्कृत/संस्कृत पाणिनी (520-460 ई.पू.) के संस्कृत व्याकरण के उल्लेख के साथ, जेंडिक/जेंद (अवेस्ता/ईरानियन वर्ग की भाषा), फारसी, अंग्रेजी, आधुनिक भारतीय/ गैर-भारतीय आर्य भाषाएं/ आस्ट्रो-एशियाई/ गैर-आर्य, जावा-संस्कृत, प्राकृत, पाली, तिब्बती, गाथा (बौद्ध कालीन-मिश्रित संस्कृत), तमिल, मैथिली, मागधी/अर्धमागधी एवं हिंदी/आदि को लेकर ज्ञान/शोधवर्धक बहुमूल्य सामग्री अनेक उदाहरणों के साथ दी गई है।

अरबी, फारसी और तुर्की ग्रंथ में (पृ. 113/115) स्पष्ट किया गया है कि भारत में, इस्लाम का आगमन, आततायी मुहम्मद बिन कासिम (695-715) द्वारा सिंध के अंतिम हिंदू राजा 'चच' को पराजित कर, सिंध के रास्ते से (712/13 ई.) हुआ परंतु, अफगानिस्तान और ईरान के आसपास के प्रदेशों से भारत के व्यापारिक संबंध (पश्चिमी समुद्र-तट माध्यम से) इस्लाम के आगमन के पूर्व ही थे; जिसकी पुष्टि आज के संबंधों द्वारा भी देखी जा सकती है। ज्ञातव्य है, सिंध का पहला इतिहास 'चच-नामा' भी अरबी में ही लिखा गया था। इन सब तथ्यों के साथ भारत में प्रयुक्त अरबी, फारसी और तुर्की के भाषिक नमूनों को समाज भाषाविज्ञान के आलोक में, प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसके द्वारा भारत में, इन देशों/भाषाओं एवं भारत में जन्मी उर्दू के संपर्क से हमारी आज की सामासिक/भाषिक-संस्कृति किस तरह का आकार लिए हुए है, इसे भी समझा जा सकता है। अमीर खुसरो (1253-1325) से लेकर अब तक के हिंदी रचनाकारों द्वारा प्रयुक्त भाषा के नमूने भी पेश किए गए हैं। समीक्ष्य ग्रंथ में कई उदाहरण दिए गए हैं जिनके द्वारा इन भाषाओं की उपस्थिति समान अर्थ के साथ, हमारी आज की भाषाओं में दर्ज की जा सकती है; कुछ उदाहरण अरबी - अखबार, अकसर, आदत, आदमी, आम (साधारण), असल, इज्जत आदि। फारसी - आजाद, आबादी, आमदनी, आखिर, आराम, आवाज, आसमान आदि। तुर्की - बाबा, सिपाही, तकिया आदि। दाराशिकोह जैसे विद्वान-शासकों ने संस्कृत से फारसी में भी अनुवाद किए।

अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसीः इतिहास बताता है कि पुर्तगाली नौ सेनाध्यक्ष वास्को डी गामा (1469-1524) द्वारा समुद्री मार्ग की खोज के परिणामस्वरूप 16वीं सदी में, यूरोपियनों ने बड़ी संख्या में भारत का रुख किया। इनमें प्रमुख रूप से, अर्मेनियाई, पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी थे। हम जानते हैं कि इनमें भी पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों की उपस्थिति 20वीं सदी के दौर में भी क्रमशः गोवा और पांडिचेरी (पुदुचेरी) में बनी रही। स्वाभाविक है कि इनकी भाषा और संस्कृति ने हमारे समाज, हमारी भाषाओं पर सांस्कृतिक प्रभाव डाला। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण आज के हमारे गोवा और पुदुचेरी (पांडिचेरी) के भवन, चर्च और शहर की बनावट में देखने, वहां रहने पर मिलते हैं... फिर भी इन सभी की भाषाओं का कम/ज्यादा साम्य हमारी भाषाओं में मिलता है। यथाः अर्मेनियाई हिंदीः क्रमशः Dur द्वार, Nor नया, kov गो/गौ, Ut आठ/अष्ट, Dustr दुहित्र (Daughter) आदि उदाहरण ग्रंथ में नहीं हैं, समीक्षा-लेखक ने गूगल से लिए हैं। अर्मेनियाई यांत्रिक कार्यों में दक्ष थे; आगरा के यांत्रिक कार्यों में इनका योगदान रहा होगा (पृ.194-5)। पुर्तगाली इस भाषा के अनेक उदाहरण; हिंदी-बंगाली-तेलुगु को लेकर दिए गए हैं; जैसे क्रमशः, अनानासः अनानास-अनारस-अनस, अल्मारियोः आलमारी-अल्मारी-अल्मारा, अल्फिनेतेः आलपिन- आलपिन-आल्पी आदि (पृ. 229-31)। डच - हालांकि, डचों ने 1592 में अपनी ईस्ट इंडिया कंपनी बनाई, 1618 में मुगल-फरमान हासिल कर व्यापार आरंभ किया।

कोचीन पर अपना आधिपत्य जमाया। उन्होंने पुर्तगाली और कुछ भारतीय भाषाओं की मदद से अपना कार्य चलाया पर, उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। फ्रांसीसियोंने अपना आरंभ फारसी और पुर्तगाली भाषा की मदद से किया। गवर्नर डूप्ले (1742-1756) की कार्यशैली से भारत का इतिहास परिचित रहा। पांडिचेरी (पुद्दुचेरी) फ्रेंच संस्कृति के जीवंत-इतिहास के रूप में हमारे सामने है... परिणामस्वरूप, पांडिचेरी (पुद्दुचेरी) की तमिल भाषा पर इसका प्रभाव दिखाई देता है ...यथा; मानक-फ्रांसीसी का सकेट्री, कोंबिनी तमिल में, क्रमशः सकीरातार, कुम्बिनी (कंपनी) के रूप में उच्चरित होते हैं।

दरअसल भारत में अंग्रेजों/अंग्रेजी/अंग्रेजियत को लेकर हम आज भी पूरी शिद्दत से जुड़े हुए हैं। उपर्युक्त-संदर्भित अध्यायों में, पृ. 244 से लेकर 452 पृष्ठों तक फैली हुई इस ग्रंथ की सामग्री से मोटे तौर पर हम परिचित हो सकते हैं। परंतु, विद्वान लेखक ने, 1601 में लंदन में स्थापित ईस्ट इंडिया कंपनी (ई.आई.सी.) के, भारत में, 1603 में गृह प्रवेश को लेकर भारत के स्वतंत्र होने तक और फिर उपसंहार में 21वीं सदी के भारत की समाजभाषा-वैज्ञानिक स्थिति को सोदाहरण ऐतिहासिक/राजनीतिक और भाषावैज्ञानिक उदाहरणों/संदर्भों के साथ, प्रयोजनमूलक तरीके से बखूबी उकेरा है। चूंकि; शब्द, वाक्य और अर्थ (Meaning) को लेकर कई महत्वपूर्ण-उपयोगी उदाहरण दिए गए हैं जिन्हें समीक्ष्य-ग्रंथ के गहन अध्ययन से ही जाना जा सकता है। अतः जहां, पाठकों की जानकारी के लिए यह सूचित करना समीचीन होगा कि राजा राममोहन राय जैसे विद्वान ने (1823 में) भारत में, संस्कृत शिक्षा के स्थान पर, प्रयोजनमूलकता के आधार पर, अंग्रेजी की वकालत की (पृ. 384-386)। बाद में अंग्रेज होने और सभ्य होने के दंभ में आकर लार्ड टी. बी. मैकाले के 2.2.1835 को गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक को लिखे गए 32 मुद्दों वाले सिफारिशी-पत्र (पृ. 386-397) एवं उसकी स्वीकृति में गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक के आदेशात्मक पत्र 7.3.1835 (पृ. 397-398) को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि आज के भारतीय समाज को गढ़ने में अंग्रेजी की क्या भूमिका रही। मैकाले ने किस तरह दंभी भाषा में, अपने सिफारिशी-पत्र (पृ. 389 मुद्दा 10) में कहा कि 'मुझे कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो इस बात से इनकार कर सके कि एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय का एक खाना भारत और अरब के संपूर्ण देशज साहित्य के बराबर है।' इससे, हम अंग्रेजों की मानसिकता का पता लगा सकते हैं परंतु यह हर्ष की बात है कि वैश्वीकरण तथा अमरीकीकरण की आंधी ने अंग्रेजों/मैकालों की अस्मिता को हिला कर रख दिया। अमरीकन-अंग्रेजी, हिंग्लिश आदि इसके जीवंत उदाहरण हैं।

हमारे संविधान की 8वीं अनुसूची में उल्लिखित 22 भाषाएं और केंद्र (संघ) तथा भारत के राज्यों की राजभाषाएं भी इन भाषा-वर्गों से ही संबंधित है, जिसके परिणामस्वरूप हमारी भाषाओं की शब्दावली और वाक्य-विन्यास भी इनसे प्रभावित हुए हैं; हिंग्लिश, मुंबइया या हैदराबादी आदि हिंदी तथा सभी भारतीय भाषाओं के मिश्रित रूप इसके समाज-भाषिक स्वरूप के जीवंत उदाहरण हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में मूल या आज के मैकाले के दंभ को कुचलने का प्रयास भाषिक हथियार से नहीं किया गया है। लगभग प्रथम 100 पृष्ठों का अनुवाद कुछ क्लिष्ट, कृत्रिम और अनूदित बन पड़ा है ...परंतु बाद में सहज हिंदी रूप निखर कर आया है..., कार्य-प्रक्षेत्र को कार्य क्षेत्र/स्थल या व्यावहारिक-क्षेत्र के रूप में सोचा जा सकता था आदि ...।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भाषा हमारे मन के भावों/प्रकार्यों (Functions) को किसी विशिष्ट शब्दावली, भाषारूप (रजिस्टर/प्रयुक्ति) द्वारा अभिव्यक्त करती है। ग्रंथ में, (पृ. 17) भाषाविद् मर्टिनेट आद्रे की पुस्तक 'लैंग्वेजेज इन कांटेक्ट' (1963) का उद्धरण ... 'भाषिक वैविध्य की शुरुआत घर से ही और एक ही व्यक्ति के अंदर से होती है... जिसे हम ध्यानहीनतः 'भाषा' कह देते हैं, वास्तव में वह लाखों सूक्ष्म तत्वों का योग है जिनमें से कई इतना भिन्न भाषिक व्यवहार करते हैं कि ऐसा प्रश्न उठता है कि क्या उन्हें दूसरी भाषाओं में वर्गीकृत नहीं किया जाना चाहिए... हम सब परिस्थितियों के अनुसार अपने भाषिक व्यवहार को अनुकूलित करते हैं और इस प्रकार से यह एक भाषा-भाषी को दूसरे से अलग करता है।' जिसे विस्तार देते हुए व्यवहार-संदर्भों, कार्यकलापों आदि को लेकर विशिष्ट भाषा-प्रयोगों के संदर्भ में विभिन्न 'भाषिक प्रयोग प्रक्षेत्रों' (specific domain of language used/applied) के रूप में प्रस्तुत किया गया और फिर आगे चलकर, भाषाविद् हैलिडे (1965) आदि विद्वानों द्वारा Register प्रयुक्ति के स्वतंत्र भाषा-प्रयोग शैली सिद्धांत-रूप में भी, भाषावैज्ञानिक विस्तार दिया गया। यह बहुत ही गहरा और गंभीर भाषा मनोवैज्ञानिक मुद्दा है जिसके बीज, अमरीकी मनोभाषाविद् नॉम चॉम्स्की ने अपने भाषिक-सिद्धांतों Generative grammars and the concept of an evaluation procedure..., structure of language/used/ is genetically ... (1957 से 21वीं सदी तक...) में स्थापित किए।

साथ ही, संसार की प्राचीनतम मानव-सभ्यताओं में भारतीय-सभ्यता का आदरपूर्ण स्थान है। वैदिक काल के प्राचीनतम भारत में ज्ञानानुशासन की हर विधा यथा गणित, अभियांत्रिकी (Engineering), चिकित्सा (आयुर्वेदिक आदि) खगोल, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, वास्तुविज्ञान, कला, संगीत, नाट्यशास्त्र, नृत्य, साहित्य, भाषाविज्ञान/ व्याकरण, दर्शन, धर्म, न्याय, राजनीति, समाजशास्त्र आदि का विकास संस्कृत भाषा के माध्यम से हो चुका था। बाद में भारत को अरबी-फारसी/उर्दू, अंग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के लगभग सभी ज्ञानानुशासनों का लाभ, स्वतंत्र भारत के सामाजिक/ सामासिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक/ सरकारी, आर्थिक जगत को मिला। इसी दिशा में 1 अक्टूबर, 1961 को (भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय और अब, मानव संसाधन विकास मंत्रालय के उच्चतर शिक्षा विभाग के अंतर्गत स्थापित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, पश्चिमी खंड-7, आर.के.पुरम, नई दिल्ली -110066 के द्वारा) भारत सरकार की भाषानीति के अनुसार वैधानिक मानकों के आधार पर, सभी भारतीय भाषाओं को लेकर, पारिभाषिक शब्दावलियों/कोशों आदि सामग्री का निर्माण/प्रकाशन किया गया है और अब भी किया जा रहा है। इस आयोग द्वारा अबतक लगभग 6 लाख शब्दों पर कार्य किया गया है।

21वीं सदी में पनपी हिंग्लिश और अंग्रेजी मिश्रित अन्य भारतीय भाषाओं के भाषिक-शैली/रूप पनपे, जिसने आज के युवा-वर्ग को स्वाभाविक गति देकर, भाव/अवधारणा संप्रेषण का व्यावहारिक मंच प्रदान किया। परिणामस्वरूप आज हिंदी के लगभग 200-300 दूरदर्शनी-चैनल करोड़ों भारतीयों को; सेल्फी, साइबर, रन, विकेट, टूर्नामेंट, वायरल (तस्वीर आदि) पोस्टर, बम, फ्लैट, कॉल सेंटर आदि पारिभाषिक शब्द धड़ल्ले से परोस रहे हैं। गूगल जैसी संज्ञा, क्रिया के रूप में प्रयुक्त हो रही है। 'when I googled U' (जब मैंने तुम्हें गूगल पर ढूंढा)। भारतीय भाषाओं में कमाल की भाषिक लोच है जो उसे हर भाषिक ढांचे में स्वाभाविक रूप से खूबसूरती के साथ समाने की कला देती है मसलन, स्कूलों, यूनिवर्सिटियों Gheraoed (घेराओड) आदि (अब तो, भारत सरकार के गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग के दि. 26.9.2011 के पत्राचार सं. 1/14011/02/2011-रा.भा. नीति-1), (विषयः सरकारी कामकाज में सरल और सहज हिंदी के प्रयोग के लिए नीति-निर्देश), में भी इस मुद्दे को लेकर, नागरी लिपि में अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द अपनाने के स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं। परिणामस्वरूप, आज हमारा भारतीय समाजभाषा-वैज्ञानिक ढांचा और भी मजबूत हो रहा है। इस दिशा में समाजभाषा-मनोवैज्ञानिक रूप से भी काफी कार्य करने की संभावना है।

कविता

‘बड़ी’ नहीं, जरूरी कविताएं

रामकुमार कृषक

कवि-संपादक

संपर्क :
सी-3/59, नागार्जुन नगर,
सादतपुर विस्तार,
दिल्ली-110090
मो. 09868935366

वरिष्ठ कवि रेवतीरमण शर्मा के सद्यः प्रकाशित छठे कविता-संग्रह ‘जिंदा हूं मरने के बाद’ की कविताओं को पढ़ते हुए लगता है कि कविता कवि की साँस है, उसके जीवन का सार अंश है। रेवतीरमण शर्मा ने स्वयं को निरा भौतिकवादी कहा है। अध्यात्म से परे और वैचारिक प्रतिबद्धता का हामी। यह बात वे न भी कहते, तो भी उनकी कविता कहती ही है। यही हिंदी कविता का स्वर है, यही उसकी परंपरा और यही समकालीनता।

‘कविता को अपने परिवेश से जुड़ी होने के साथ-साथ अपने परिवेश को आलिंगन में समोये हुए आसमान तक ठंडी हुई चीज भी होना चाहिए। उसे किसी जहाज के पंछी की तरह बार-बार ऊपर की नीलिमा में विलीन होकर फिर नीचे की हरितिमा और काठ-कठौती तक लौटकर, शक्ति और संपूर्णता को आत्मसात करते रहना होता है। इसीलिए मैं मानता हूं कि कविता कवि की साँस है, उसके जीवन का सार अंश है। वह कवि के अस्तित्व का विस्तार या संक्षेप नहीं है, उसका अस्तित्व है। कवि की हर कविता में उसके अस्तित्व की दृष्टि होनी चाहिए।’ (भवानी प्रसाद मिश्र)

वरिष्ठ कवि रेवतीरमण शर्मा के सद्यः प्रकाशित छठे कविता-संग्रह ‘जिंदा हूं मरने के बाद’ की कविताओं को पढ़ते हुए मुझे सहज ही भवानी भाई की उक्त टिप्पणी याद आ गई। खासतौर से इसलिए कि रेवतीरमण की कविता धरती की हरितिमा और काठ-कठौती से बार-बार अपना संबंध बनाती है; और इसलिए भी कि मध्यवर्गीय जीवन जीते हुए वे स्वयं में ही नहीं रह जाते, बल्कि समाज की सतह पर मौजूद जीवन-यथार्थ को भी पहचानते हैं। उसे अपनी काव्य-संवेदना में शामिल करते हैं, और कलाविहीन कहे जाने का खतरा उठाते हुए भी उससे सरोकार रखते हैं। उदाहरण के लिए संग्रह की अंतिम कविता ‘कविता की चीख’ से कुछ पंक्तियां- उन्हें सुनो/जो छिपा लेते हैं/दो हाथों के बीच सिर अपना/कविता के फुटपाथों पर/निकल गईं न जानें कितनी जिंदगियां/उनके न राशनकार्ड बने/न जुड़ा मतदाता सूची में नाम उनका/कौन दिलाएगा उन्हें गैस-सिलेंडर मुफ्त?/ये यहीं जन्मे/मर रहेंगे यहीं/कूड़ा बीनते कूड़े के ढेर पर/मेरी कविता की चीख भी/दफ्न हो जाएगी साथ उनके! (पृ. 103) माने कवि के कहे उसकी कविता का जीवन फुटपाथी जिंदगी से भिन्न नहीं है। यही है कविता का वास्तविक यथार्थवाद। उससे अलग उसका अस्तित्व नहीं। न ही आदर्शों की अट्टालिकाओं से उसका कोई वास्ता है। आम जन के पीड़ादायी दुःस्वप्नों की कविता है वह।

पूछा जा सकता है, आरोपित भी किया जा सकता है कि जीवन के कवितानुमा इस यथार्थ-गायन में कविता कहां है? उसके बिंब, उसके प्रतीक और उसकी अर्थगर्भी भाषिक व्यंजनाएं? इनके अभाव में कविता की रचनात्मकता और कलात्मकता प्रभावित हुई है। इस संदर्भ में मैं जहां वरिष्ठ कवि, गद्यकार विजेंद्र की राय का सहारा लूंगा, जो उन्होंने पुस्तक के ‘पुरोवाक्’ में व्यक्त की है। कहते हैं-‘‘रेवतीरमण शर्मा विचारधारा (या जनवादी सोच) को कविता में सहज रूप में आने देते हैं। उसे थोपते नहीं हैं। इस संकलन की अनेक कविताएं उन क्षेत्रों का स्पर्श करती हैं, जहां मध्यवर्गीय मनोरचना के कवि जाना तक पसंद नहीं करते। इसके साथ ही कवि मध्यवर्गीय जीवन के अंतर्विरोध भी अभिव्यक्त करता है। वह आज के इस संवेदनहीन दौर में न तो कहीं पस्तहिम्मत है और न अवसादग्रस्त। न उसे जीवन से कोई अनास्था है। कविता में कहीं भी बड़बोलापन नहीं है। न कोई उपदेशात्मकता। सभी बातें सहज संकेत से कही गई हैं।’’ विजेंद्रजी से सहमति व्यक्त करते हुए भी कहा जा सकता है कि संग्रह की कुछ कविताएं कुछ प्रतीकों का भी खास निर्वाह करती हैं। उदाहरण के लिए ‘ढोल’ कविता। कवि ने ढोल के माध्यम से जिस शोषित-प्रताड़ित जन की बात की है, उसकी व्यंजना हमें दूर तक ले जाती है।

रेवतीरमण शर्मा ने स्वयं को निरा भौतिकवादी कहा है। अध्यात्म से परे और वैचारिक प्रतिबद्धता का हामी। यह बात वे न भी कहते, तो भी उनकी कविता कहती ही है। यही हिंदी कविता का स्वर है, यही उसकी परंपरा और यही समकालीनता। मालकिन के मुन्ना के जन्मदिन पर उसका सर्वोपरि उपहार है शहतूत का पौधा, और उन दोनों को एक साथ पाल-पोसकर बड़ा करने का हौसला। कवि की रचना-दृष्टि को जहां से भी समझा जा सकता है। जीवनदायी पर्यावरण से ही जीवन है, यह वह भली-भांति जानता है। आकस्मिक नहीं कि एक अन्य कविता में भी कवि ने जिस कथाबिंब की सृष्टि की है, वहां भी वृक्ष ही एक गिलहरी का बिलाव से बचाव करता है।

हम जानते हैं कि हमारा समय कविता का गद्यकाल है। कविता हृदय की भाषा है। कायदे से उसमें भावात्मक तरलता होनी चाहिए। संवेदना की बहती हुई नदी लेकिन वर्तमान सभ्यता के यांत्रिक विकास अथवा उससे उत्पन्न बौद्धिक प्रदूषण ने उसे प्रायः सुखा दिया है। इसके बावजूद रेवतीरमण के दृष्टिपथ में हरियाली के ऐसे दृश्य भी आते हैं, जहां ‘बारिश में/सारा पहाड़/

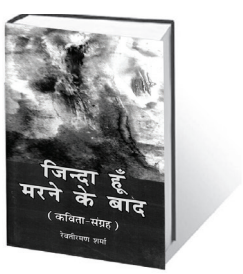

पुस्तक : जिंदा हूं मरने के बाद
कवि : रेवतीरमण शर्मा
प्रकाशक : अभिषेक प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 103
मूल्य : ₹ 300

हरा हो जाता है/पत्थर पर उग आती/हरियाली काई की।' हरितिमा के लिए हमें काई भी भली लगती है। 'बारिश में' शीर्षक इस कविता में कवि ने एक यादगार बिंब भी रचा है। उसे पढ़ते हुए हम 'मेघदूत' की बिंबधर्मिता को भी याद कर सकते हैं, जिसमें कालिदास ने मेघरूपी हाथी को पर्वत ठेलते हुए दिखाया है। लेकिन जहां जो बिंब है, उसमें बादल पर्वत को ठेलता नहीं, बल्कि उसे अपना सिंहासन बना लेता है! अनायास नहीं कि रेवतीरमण शर्मा हिंदी काव्यधारा के अनेक पड़ावों से परिचित हैं।

आधुनिक हो या परंपरागत, स्त्री जीवन कविता का चिर आलंबन है। बल्कि वह स्वयं स्त्रीवाचक है। उसके आंतरिक गुणधर्म की वाहक। उसका समुच्चय। रेवतीरमण की कविता भी इससे विरत या विलग नहीं है। नारी-जीवन के अनेक रूप इन कविताओं में मौजूद हैं, खासकर उसके श्रम-संवलित वर्गीय आधार के अनुरूप। इस नाते 'भूख का जुलूस', 'बीड़ी पीती औरत', 'लड़कियां', 'बूढ़ी औरत', 'कामवाली', 'प्रतिदान', 'औरत', 'सुबह' आदि कविताओं को देखा जा सकता है। कवि ने इन कविताओं में शामिल हर स्त्री को अपनी मध्यवर्गीय संवेदना दी है। वह उसकी दिनचर्या को देखता है, और शब्दों से दृश्यों में बदल देता है। फिर उसे और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। परिदृश्य स्वयं बोलने लगता है। मसलन-जब मालकिन ब्लोवर या/हीटर लगाकर सोती हैं/बर्तनों को धोना होता है/बर्फ-से जमे/टंकी के ठंडे पानी से/गीजर चलता है/पर नहीं ले सकेगी/बूँद-भर गरम पानी!

जाहिरा तौर पर किसी भी संवेदनशील कवि के लिए यह क्षोभकारक स्थितियां हैं। सवाल इन्हें बदलने का है। कवि ने इसका एक समाधान भी दिया है-एक दिन निकलेगा/जुलूस भूख का/वह घुसेगा इन घरों में/अपनी भूख उठा ले जाएंगे/इन अलमारियों से/खाली कर जाएंगे तिजोरी तुम्हारी/जो भरी हैं/भूखों के धन से!

कवि के इस समाधान को उसकी आकांक्षा-भर माना जा सकता है। वर्ग-संघर्ष की सैद्धांतिकी से इसका जो रिश्ता है, वह सिर्फ कहने-भर से नहीं सधेगा। न सधा है। फिर भी आशावाद का अपना महत्व है। रेवतीरमण इसे जानते हैं। परिस्थितियां चाहे जितनी विपरीत हों, कविता का काम वंचितों को हताश करना नहीं हो सकता। साथ ही वे प्रतिपक्ष की सामूहिकता में विश्वास रखते हैं। उन्हें 'वह कविता अच्छी लगती है/जिसमें तुम नहीं/हम बोलते सुनाई देते हैं।' यह स्वर सामूहिक बोध से आता है। 'साझी विरासत' का इतिहास भी इसी बोध का परिणाम है। कवि इस विरासत के खंडहरों तक को बचाए रखना चाहता है, ताकि 'समझ सके/आनेवाली पीढ़ी/रहा करते थे हम/मिलजुल कर सदा/इस महादेश में।' कवि की यह भावदृष्टि उसकी

रेवतीरमण शर्मा अपने काव्य-शिल्प से चमत्कृत या मुग्ध करने वाले कवि नहीं हैं, बल्कि सामान्य जीवन से असामान्य काव्यबोध को उद्घाटित करने वाले रचनाकार हैं।

कविता को एक नया विस्तार देती है।

हमारे अनेक काव्य-समालोचक अवचेतन की बात करते हैं। काव्य-रचना में बजाहिर उसकी भी एक भूमिका है लेकिन अवचेतन भी चेतन की एक अवस्था है अन्यथा साहित्य के बहिर्मुख मूल्य कहां से आते। कवि या रचनाकार का समय और समाज रचना में क्यों कर मुखर हो पाता। हां, कवि की साधनावस्था फिर भी एक सच्चाई है। साधना के बिना सृजन नहीं। साधना हमारे भीतरी और बाह्य को एक करती है। उद्वेलित, संवेदित करती है हमें। रेवतीरमण की कविताओं में कम ही सही, पर इसकी भागीदारी है। साथ ही वे अपने पाठकों को शोषण के उन टूल्स से भी परिचित कराते हैं, जिसे नई अर्थव्यवस्था ने दिया है और जिसे वर्तमान विश्व-व्यवस्था में भूमंडलीकृत यथार्थ कहा जाता है। संदर्भतः 'सूकड़ी नदी' शीर्षक कविता अत्यंत अर्थगर्भित है। उसकी कुछ पंक्तियां हैं- गांव की एक नदी/असमर्थ है/कुएं तालाब भरने/पपड़ाए प्यासे होठों की/प्यास बुझाने में/बहती रहती जिसकी/अविरल धारा, वह चुप है/चुप हैं गांव के लोग/जानते हैं वे/गांव आने से पहले/समा गई है सूकड़ी बोतलों में/जो थी कभी गांव की जीवन-रेखा।

'समा गई है सूकड़ी बोतलों में'... जैसे क्रियापद आधुनिक विकास की उस रफ्तार पर टिप्पणी हैं, जो विनाश को आमंत्रण दे रही है। 'सूकड़ी' शब्द संज्ञा तो है ही, विशेषण भी है। नदी की पहले से ही क्षीणावस्था का पर्याय। इससे स्थानीयता का भी बोध होता है। ऐसे अनेक शब्दों का उपयोग कवि ने इन कविताओं में किया है। अनायास नहीं कि उसकी भाषाई संस्कृति आद्यंत जनोन्मुख है। कवि की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए डॉ. जुगमंदिर तायल कहते हैं। 'आज कविता के पाठक कम होते जा रहे हैं, क्योंकि कविता जीवन का साथ छोड़ती जा रही है। रेवतीरमण कविता को जीवन से जोड़ने में विश्वास रखते हैं। उन्हें घरों में काम करनेवाली बाइयों के उन बच्चों की ललक में कविता मिलती है, जो धनी परिवारों के बरामदों में पढ़ते रहते हैं। उन्हें ट्रांसजेंडरों की उस जद्दोजहद में भी कविता मिलती है, जो मनुष्य-रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षशील हैं। उनकी जनवादी सोच उस गरीब बालक के दुख में कविता तलाश लेती है, जिसके एक पैर का जूता अनजाने कहीं सड़क पर गिर गया है।' डॉ. तायल के इस आकलन को कवि के आत्म-स्वीकार की चंद पंक्तियों में भी देखा जा सकता है। वह कहता है कि 'मैं निरा भौतिकवादी हूं। अध्यात्म मुझे छू तक नहीं गया है। मैं कविता में प्रतिबद्धता का हामी हूं। मेरी कविता के सरोकार, मध्यवर्गीय घरों में काम करनेवाली उन आयाओं, बाइयों, छोटे काश्तकारों की ओर जाते हैं, जो सीमांत कृषक या सिर्फ मजदूर हैं; और उनका पसीना मेरी कविता को संबल प्रदान करता है।'

कविता करना और कविता को संबल प्रदान करना, दोनों बातें अलग हैं, लेकिन उद्देश्य अलग नहीं है। कविता सार्थक तभी होगी, जब हमारे जीवन और समाज का बहुस्तरीय यथार्थ उसका संबल होगा। रेवतीरमण इस तथ्य की अनदेखी नहीं करते। अवसाद की स्थिति में जीवन-यथार्थ से उत्पन्न कविता ही उनका संबल है। वही उनकी जीवनी शक्ति है। वे प्रत्येक काव्य-स्थिति का मानवीकरण करते हैं, और उसकी चीख तक जाते हैं। अनसुना नहीं करते उसे, बल्कि सुनकर उस पर विचार भी करते हैं। इसी से उनकी 'उनका बेटा' और 'कुम्हार टोला' जैसी कथात्मक कविताएं निकलती हैं। ये बड़ी कविताएं नहीं हैं, लेकिन जरूरी कविताएं हैं। ये उन विडंबनाओं की ओर इंगित करती हैं, जिन्हें आधुनिक विकास ने पैदा किया है। इनके मूल में संबंधों और पारिवारिकता के क्षरण तथा कितने ही कुम्हार टोलों के 'नेहरू' और 'अंबेडकर' नगर में बदल जाने की त्रासदी है।

कहना न होगा कि रेवतीरमण शर्मा अपने काव्य-शिल्प से चमत्कृत या मुग्ध करनेवाले कवि नहीं हैं, बल्कि सामान्य जीवन से असामान्य काव्यबोध को उद्घाटित करनेवाले रचनाकार हैं। दूसरे शब्दों में कहूं तो उनकी कविता आकाशविहीन भले हो, धरतीविहीन नहीं है।

कहानी

सकारात्मकता के कथाकार

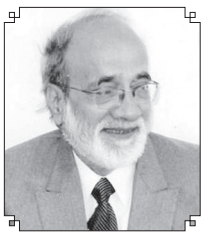

नवनीत मिश्र

कथाकार

संपर्क :
ई-4, सौभाग्य अपार्टमेंट्स,
8 गोपालनगर,
लखनऊ-226023 (उ.प्र.)
मो. 9450000094
9839330094

'दस प्रतिनिधि कहानियां' संग्रह में महेश दर्पण की वह पैनी दृष्टि दीख पड़ती है जो सामने घटित हो रही घटना के पीछे की अदृश्य हलचल को भी पकड़ने में सक्षम है। महेश दर्पण की कहानियां जीवन के उन प्रसंगों को बहुत ही कुशलता से हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं जिनको पढ़ते हुए पाठक उन स्थितियों में स्वयं को रखकर सोचने लगता है कि 'मैं' की जगह अगर वह खुद होता तो क्या करता? महेश दर्पण हमेशा से एक सजग कथाकार रहे हैं। अपने समय को पकड़ने की कला उन्हें बखूबी आती है। महेश उस नाकुछ से भी अपनी कहानी के लिए बहुत कुछ निकाल लेते हैं, जहां से किसी सामान्य कथाकार के लिए कुछ भी पा जाना लगभग नामुमकिन होता है।

सआदत हसन मंटो ने एक बार किसी साक्षात्कार में कहा था कि 'कहानियां तो हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी हैं, बस निगाह चाहिए उनको पहचानने की।' मंटो साहब की यह बात महेश दर्पण की कहानियों को पढ़ते हुए बहुत गहराई से महसूस की जा सकती है। महेश उस नाकुछ से भी अपनी कहानी के लिए बहुत कुछ निकाल लेते हैं, जहां से किसी सामान्य कथाकार के लिए कुछ भी पा जाना लगभग नामुमकिन होता है।

'दस प्रतिनिधि कहानियां' संग्रह में महेश दर्पण की वह पैनी दृष्टि दीख पड़ती है जो सामने घटित हो रही घटना के पीछे की अदृश्य हलचल को भी पकड़ने में सक्षम है।

'दिग्विजय' कहानी ऐसी ही एक कहानी है जिसमें किसी और के नाम की गैस का उपयोग करने वाला 'वह' उपभोक्ता पुस्तिका गैस एजेंसी में ही भूल आता है जिसकी वजह से जीवन के कार्य-व्यापार में अनेक व्यवधान उपस्थित होते हैं। 'डुप्लीकेट' पुस्तिका का बन जाना किसी दिग्विजय से कम नहीं हुआ करता था। यह वह समय था जब गैस कनेक्शन मिलना आसान नहीं होता था और लोग अकसर ही दूसरे के नाम की गैस इस्तेमाल किया करते थे। मैं स्वयं इसका भुक्तभोगी रहा हूं। एक बार गैस बुक करने गया तो काउंटर पर बैठे व्यक्ति ने उपभोक्ता पुस्तिका पर लिखे नाम को देखकर मुझसे कहा था, 'शक्ल से तो आप मुनीर आलम लगते हैं, गैस अनुराग कपूर के नाम की?' मध्यवर्गीय परिवार में गैस का क्या महत्व रहा करता था उसकी अच्छी बानगी कहानी में देखने को मिलती है।

महेश दर्पण की कहानियां जीवन के उन प्रसंगों को बहुत ही कुशलता से हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं जिनको पढ़ते हुए पाठक उन स्थितियों में स्वयं को रख कर सोचने लगता है कि 'मैं' की जगह अगर वह खुद होता तो क्या करता? 'पछाड़' में एक पुरानी सहपाठी का पत्नी की अनुपस्थिति में घर पर अचानक आ जाना न सिर्फ 'मैं' को उद्वेलित कर जाता है बल्कि पाठकों के मन में भी उस संभावित घटना की प्रतीक्षा जगा जाता है जो एक स्त्री और पुरुष के अकेले घर में मौजूद रहने की सहज-सामान्य परिणति मान ली जाती है। कथाकार महेश के लिए लक्ष्मी का आना और सवेरे एक पुर्जा छोड़कर चले जाना न तो अज्ञेय के शब्दों में, 'चूक गए अवसर का पछतावा' बनता है और न राजेंद्र यादव की लार बहाती लालसा कि, 'तुम्हारी जगह अगर मैं होता तो लक्ष्मी ऐसे ही बचकर न निकल जाती।' लक्ष्मी का उकसावा कि, '... मौका सामने आता है तो बगलें झांकते फिरते हो ...तुम सारे मर्द सिर्फ बातें बनाते हो, जीना नहीं जानते' रमेश के लिए बेचैनी पैदा करने वाला होता है जो स्वाभाविक भी लगता है।

महेश दर्पण हमेशा से एक सजग कथाकार रहे हैं। अपने समय को पकड़ने की कला उन्हें बखूबी आती है। जब टी वी चैनलों का आक्रमण नहीं हुआ था और दूरदर्शन का नेशनल चैनल ही घर-घर में मनोरंजन का एकमात्र साधन हुआ करता था उस समय से महेश ने 'जाल' जैसी कहानी निकाल ली। जिस समय आप टीवी देखते हैं उस समय आप और कुछ नहीं करते। कहानी में एक दिन लोगों को और कुछ करने का अवसर तब मिलता है जब ट्रांसफार्मर के फुंक जाने के कारण टीवी बंद हो जाता है। लाइट के जाते ही छतें और गलियां गुलजार हो उठती हैं। टीवी के जाल से मुक्त होते ही परिवार के सारे बच्चों को एक साथ छत पर एकत्र होने का मौका मिल जाता है, बच्चों की अंताक्षरी का खेल खेला जाता है,

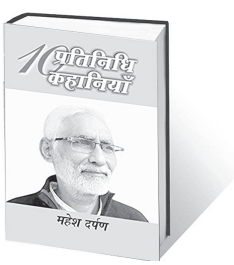

पुस्तक :
दस प्रतिनिधि कहानियां
लेखक : महेश दर्पण
प्रकाशक :
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 128
मूल्य : ₹ 250

कहानी सुनी जाती है, एक साथ बैठकर खाना खाया जाता है, पिता को अवसर मिलता है कि वह साथ बैठे बच्चों को मिर्जा गालिब के बारे में कुछ बता सकें और उधर ...अपनी मां के साथ आंगन में जाकर लेट गई नीलम को किसी पुराने घाव को कुरेदने की सूझ जाती है कि, 'अम्मा, क्या बड़े हो जाने के बाद हरीश और मुन्ना भी तेरे भाइयों की तरह हमारे घर नहीं आएंगे?' अचानक 'आ गई...' की आवाज के साथ आस-पास की छतें और गलियां सूनी हो जाती हैं। अंधेरे में संग-साथ का जो जाल बुन गया था, रोशनी के आने से छिन्न-भिन्न हो जाता है। सब लोग एक-दूसरे को भूलकर टीवी के सामने त्राटक साधकर बैठने वाले हैं क्योंकि टीवी पर फिल्म शुरू होने वाली है। अंधेरा हमें बता जाता है कि रोशनी हमसे क्या-क्या छीने ले रही है।

ज्यादातर अपने आप से मतलब रखने वाली बेदर्द दिल्ली में, राजनीति का आम आदमी के जीवन पर क्या असर पड़ता है, इस पर कोई स्कूटर चालक जैसा सामान्य नागरिक जब श्राइन बोर्ड के मसले पर कहता है- 'आपके लिए यह महज एक खबर है, लेकिन मैं सोच रहा हूं कि अब इस हंगामे के चलते वहां कई दिनों तक जाने कितने लोगों की रोजी छिन जाएगी। बफार्नी बाबा की यात्रा चलती रहती है तो वहां के लोगों की जिंदगी चलती रहती है ...यह आप वहां जाकर रहेंगे न, तभी जान सकेंगे...' तो लगता है कि वास्तव में दर्द का क्या रिश्ता होता है। गणपति बप्पा के दर्शन करने जा रहे पति-पत्नी को स्कूटर चालक से अपनापन महसूस होता है। स्कूटर चालक बहुत अच्छी-अच्छी बातें करता है और हनुमानजी का प्रसाद भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है लेकिन यह जानने के बाद कि स्कूटर चालक का नाम नदीम अहमद है पत्नी के मन में, उसके लाख भलामानस होने के बावजूद, एक 'लेकिन...' उग आता है। संशय या बेगानेपन का वह 'लेकिन...' एक बार ही सही मन में आ तो गया ही। इसी एक शब्द 'लेकिन ...' को लेकर मानवीय संवेदनाओं को उकेरने वाली एक सशक्त कहानी हमारे सामने आती है।

'जाल' में आत्मीयता और एक-दूसरे से मिली छतों की मोहल्लेदारी की सुगंध थी तो 'नेवर टु डाइ' में कालोनी संस्कृति के अजनबीपन का खट्टापन हमें कुछ सोचने पर मजबूर कर जाता है। हम सोचने पर विवश हो जाते हैं कि हम अपरिचय के किस समय में रह रहे हैं। कथा नायक को घर के सामने से गुजरते समय 'आओ जी चाय तो पीते जाओ'

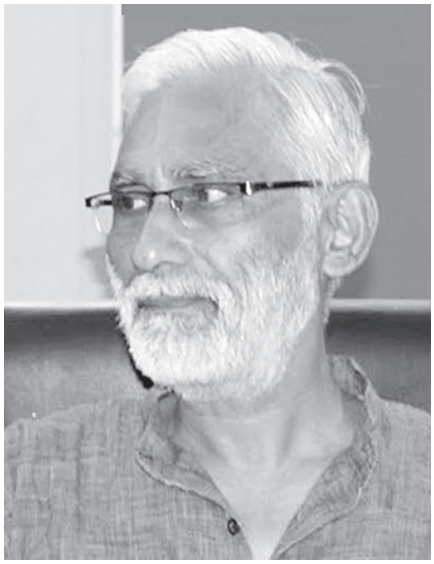

महेश दर्पण की कहानियां, जो हैं उसका चित्रण करते हुए, क्या होना चाहिए की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाली हैं। पुस्तक में सुरेश शर्मा के पुरोवाक् की शब्दावली उधार लूं तो कहना होगा कि बगैर लक्षणा और व्यंजना जैसे कलावादी नखरों का प्रयोग किए महेश दर्पण सीधी-सादी अभिधा में अपनी बात सशक्त ढंग से संप्रेषित करते हैं।

का आत्मीय-सा आमंत्रण देने वाले सिंह साहब सेना के अवकाश प्राप्त सेनानी थे, वे दो निर्धन बच्चियों की फीस जमा करते रहे थे और जो मरने से पहले देहदान कर चुके थे इन बातों की जानकारी कथा नायक तो तब होती है जब सिंह साहब के घर के बच्चे उनकी रस्म पगड़ी का कार्ड देकर जाते हैं। कथानायक उन्हें तब पहचानता है जब वह उस पंडाल के सामने से गुजरता है जो सिंह साहब की रस्म पगड़ी के आयोजन के लिए लगाया गया होता है। पंडाल में लगी सिंह साहब की तस्वीर देखकर कथानायक उनको पहचानता है। कहानी में वर्णित महानगरों की, एक ही कॉलोनी में रहते हुए भी एक-दूसरे से अनजान रह जाने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति हमें कई संदेश दे जाती है।

जैसा कि पहले कहा गया, महेश दर्पण को ना कुछ में से भी कहानी के लिए बहुत कुछ निकाल लेने में महारत है, इस बात को उनकी कहानी 'जाने जिगर' प्रमाणित करती है। पुराने जूतों की जगह एक नया जूता पहनने और उसकी सुविधाओं-असुविधाओं के अनुभव से हम सब कभी न कभी गुजरते ही हैं लेकिन उस पर कहानी रच डालने का कौशल महेश दर्पण में ही है।

इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सन 1984 में हुए सिख विरोधी दंगों के 'जख्म' पैंतीस वर्ष बीत जाने के बाद भी भरते नहीं दीखते। जिन सिखों ने अपने निरपराध प्रियजनों को पागलपन के उस दौर में खो दिया, वो भला कैसे भूल पाएंगे उन राष्ट्रीय शर्म के दिनों को? जख्म कहानी में जहां एक ओर एक-दूसरे के प्रति पनप गए अविश्वास को दिखाया गया है वहीं किसी भी तरह दंगाइयों के हाथों किसी सिख को बचा ले जाने का अदम्य साहस भी नजर आता है। कहानी में प्राण-रक्षा के लिए दाढ़ी और केश कटवाकर अपनी पहचान खोने वाले सिखों का लोमहर्षक दृश्य उभरकर सामने आया है वहीं पिंटू के रिटायर्ड फौजी पिता का क्रोध में भरकर कहना कि, 'एक आदमी के पागलपन की सजा पूरी कौम को देने वाले ये होते कौन हैं? और निजाम, निजाम क्या घास चर रहा है? मेरा निशाना अचूक है। हमें कोई मारने आया तो खिड़की से ही नली फंसाकर कई एक को ठिकाने लगा दूंगा। बस ये मुश्किल जरूर दरपेश है कि कोई अपने ही मुल्क के लोगों को कैसे मार दे लेकिन वो भी तो चुन-चुनकर सिखों को खत्म करने में लगे हुए हैं... 'मुए इंसानियत दे दुश्मन.... होश खो बैठे हैं सब' पूरे हालात और घटनाक्रम पर एक बड़ा बयान है। 'कोई अपने ही मुल्क के लोगों को कैसे मार दे' यह विचार एक ऐसे आदमी के मुंह से निकलता है जिसको मार डालने के लिए बलवाई उसे खोज रहे हैं। यही विचार इस कहानी को बड़ी कहानी बनाता है।

'किस्सा सीताराम', 'मेरी जगह' और 'चिड़िया की उड़ान' भी ऐसी ही कहानियां हैं जिनमें कोई स्पष्ट कथानक जैसा न होने पर भी विभिन्न मनःस्थितियों, विसंगतियों और विद्रूपताओं का बांध लेने वाला चित्रण है।

महेश दर्पण की कहानियां, जो है उसका चित्रण करते हुए, क्या होना चाहिए की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाली हैं। पुस्तक में सुरेश शर्मा के पुरोवाक् की शब्दावली उधार लूं तो कहना होगा कि बगैर लक्षणा और व्यंजना जैसे कलावादी नखरों का प्रयोग किए महेश दर्पण सीधी-सादी अभिधा में अपनी बात सशक्त ढंग से संप्रेषित करते हैं।

कहानी

आपातकाल की व्यथा कहती कहानियां

संजय सिंह बघेल

समीक्षक

संपर्क :
ए-405, अरुणिमा पैलेस
सेक्टर-4, वसुंधरा
गाजियाबाद (उ.प्र.)
201012
मोबाइलः 9868593732

अरुण कुमार भगत के लेखन और संपादन की यही खूबी है कि वे अपने समय के झंझावातों से आगे बढ़कर जोखिम लेते हैं, इसलिए ऐसा कार्य कर पाने में सक्षम हैं। पुस्तक की कुछ कहानियों को छोड़ दें तो लगभग संग्रह की अधिकांश कहानियां आपातकाल की सच्चाई को बयां करने में समर्थ रही हैं।

किसी भी देश और समाज के इतिहास में अंकित कुछ तारीखें इतिहास के लिए ही धब्बा होती है। एक ऐसी ही तारीख भारतीय इतिहास में भी दर्ज हुई। जिसका जिक्र गाहे-बगाहे होता रहता है लेकिन कोई भी देश और समाज नहीं चाहता है कि ऐसी तारीख फिर से दोहराई जाए। यह तारीख थी 25 जून 1975। आजाद भारत के इतिहास की यह वह तारीख थी जब तत्कालीन हुकूमत ने देश में आपातकाल लागू करके आम नागरिक की आवाज और लोकतंत्र को बंधक बना लिया था। ऐसी घटनाएं फिर से समाज में न घटे इसलिए एक सचेत रचनाकार और जिम्मेदार साहित्यकार अपने लेखन कर्म के माध्यम से उस यथार्थ को जनता के सामने लाता रहता है जो सदैव समाज के लिए पीड़ादायक है। आपातकालीन रचनाकर्म का जिक्र करते ही जो नाम हमारे जेहन में सर्वप्रथम आता है- वह है प्रो. अरुण कुमार भगत का, जिन्होंने अपने पूरे शोध और साहित्यिकी का विषय ही आपातकाल रखा है। अभी तक उनकी कुल 15 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से अधिकांशतः आपातकालीन घटनाक्रम और उस समय के इतिहास को किसी न किसी विधा के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करती है। समीक्षित पुस्तक 'आपातकालीन की कहानियां' नाम से संपादित इस पुस्तक का लब्बोलुआब भी उस समय के भयानक यथार्थ, पीड़ा और संत्रास को भी इन कहानियों के माध्यम से जनता को परिचित कराना है।

इस कहानी संग्रह में 19 कहानियों को शामिल किया गया है। संकलन की एक-एक कहानी आपातकाल की व्यथा का जिस प्रकार से चित्रण करती है। उनको पढ़ते हुए लगता है मानो हम एक ऐसी अंधेरी खोह में से गुजर रहे है जिसमें संताप, टीस के साथ-साथ घनघोर चुप्पी साध लेने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता समझ में नहीं आता है। मानवीय जीवन में फैले क्लांत को ये कहानियां जितने बड़े प्लाट और कैनवास के साथ उठाती है उसकी वेदना उससे भी गहरी प्रतीत होती है। कोई भी शासन इतना अलोकतांत्रिक भी हो सकता है कि सत्ता पर काबिज रहने के लिए अपने ही समाज के लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवीय सरोकारों का गला घोट दे। इन कहानियों का मूल केंद्रीय भाव है।

इस संग्रह की कहानियां सिर्फ संवेदना के स्तर पर ही अपनी एक नई पहचान नहीं बनाती अपितु भाषा के बनावट और बुनावट के स्तर पर भी एक ऐसा प्रतिमान गढ़ती है। जो स्थापत्य-कला की दृष्टि से भी अप्रतिम है। संग्रह में जिन कहानीकारों को शामिल किया गया है उनमें श्रीमती मृदुला सिन्हा, डॉ. महीप सिंह, पंकज बिष्ट, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, हिमांशु जोशी, डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय', डॉ. तपेश्वर नाथ, डॉ. ऋता शुक्ल के नाम प्रमुख हैं।

आपातकाल को अपने शोध और विमर्श का अंग बनाने के पीछे और इन कहानियों के प्रकाशन के पीछे के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए संग्रह के संपादक अपने संपादकीय में लिखते हैं- 'आपातकालीन साहित्य पर शोध करते हुए जब मेरी दृष्टि इन कहानियों पर पड़ी तो मैंने यह संकल्प किया कि इन कहानियों को नई पीढ़ी तक पहुंचाया जाए। इसी की फलश्रुति यह संग्रह है'। इस पुस्तक के संपादन के पीछे दूसरा जो सबसे बड़ा कारण भगत जी मानते हैं उसको स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं : 'आपातकाल के दौरान दहलते और धड़कते कलेजों ने जिस साहित्य की सर्जना की, वह अनेक कारणों से अप्राप्य बना रहा। उस समय जो कुछ भी रचना-सर्जना हुई, उनका बहुत बड़ा भाग अनेक कारणों से नष्ट हो गया। आतंक के माहौल में मन-प्राणों की वेदना, करुणा और विषाद पन्नों पर अवश्य पसरा, किंतु कई कारणों से उन्हें सुरक्षित-संरक्षित नहीं रखा जा सका। कुछ रचनाकारों ने साहस दिखाया तो छद्म नाम से उनकी रचनाएं यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में छपी तो जरूर, किंतु समय के साथ नष्ट हो गईं। कुछ रचनाएं दीमक की भेंट चढ़ गई तो कुछ रद्दी की टोकरी में चली गईं। आपातकाल हटने के बाद 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद स्थितियां बदलीं और आज 42 वर्षों बाद एक सार्थक प्रयास के रूप में 'आपातकाल की कहानियां' आपके हाथों में सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।'

इस कहानी संग्रह का दरवाजा जिस कहानी के माध्यम से खुलता है उसका नाम ही है 'काला अध्याय', जिसकी लेखिका है ऋता शुक्ल। कहानी का आरंभ एक मध्यवर्गीय परिवार के रोजमर्रा के खुशहाल जीवन से होता है। कहानी का प्रारंभ इन

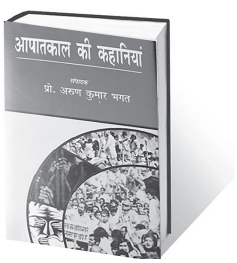

पुस्तक : आपातकाल की कहानियां
संपादकः
अरुण कुमार भगत
प्रकाशक : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली
प्रकाशन वर्षः 2019
पृष्ठ : 136
मूल्य : ₹ 350

वाक्यांशों के साथ होता है- 'किंशुका पिता के द्वारा पढाए गए पाठ का स्मरण कर रही थी..

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही हमारे राष्ट्रधर्म की पहली शर्त है। चाणक्य नीति भी यही कहती है, सत्य, धृति, करुणा और न्याय। राजसत्ता के ये चार प्रबल स्तंभ माने जाते हैं। ग्यारहवीं कक्षा की छात्रा किंशुका...'

यह कहानी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है। परिवार में एक अजीब किस्म का भय और संत्राप भरता चला जाता है। किंशुका को राष्ट्रधर्म और राजसत्ता के जो मायने पता थे और उसके दिमाग में बस चुके थे वे अब टूटने-चिटकने लगे थे। उसका विश्वास अब राजसत्ता से उठकर उसकी उस भयावहता की ओर जाने लगा था जिसका वर्णन इस कहानी में आगे इस प्रकार किया गया है : 'इस वक्त बाहर जाना खतरे से खाली नहीं है भाई। संकटकालीन स्थिति पैदा कर दी गई है। चप्पे-चप्पे पर पुलिस तैनात है। रातोरात समाचार-पत्रों के कार्यालयों में प्रतिबंध लागू कर दिए गए हैं। आज कोई भी समाचार-पत्र नहीं निकलेगा।'

कहानी पुनः आगे बढ़ती है और आगे किंशुका घबराई हुई आवाज में कहती है : 'तो कुछ कीजिए न चाचा जी' और आगे कहानी का अंत कुछ इस तरह होता है : 'यह काली रात बीते, इसके पहले सबको जागना और पूरे समाज को जगाना है। आइए मां, पापा, घर चलें।'

संग्रह की पहली कहानी ही आपातकाल के समय का जिस तरह बखान करती है उससे संपूर्ण कहानी संग्रह के अंदर का दृश्य अपने आप स्पष्ट हो जाता है। तपेश्वर नाथ द्वारा लिखित संग्रह की तीसरी कहानी 'स्पर्शाघात' के प्लाट का विश्लेषण जिस तरह से किया गया है वह रोंगटे खड़े करने वाला है। कहानी का अंत जिन वाक्यांशों के माध्यम से होता है। वह न सिर्फ मानवीय मूल्यों और नैतिकता को तार-तार करने वाला है अपितु पाश्विकता की हदें भी पार करता हुआ जान पड़ता है यथा : 'उस दिन देखा छाता चौक से आगे पुलिस की गोली से चिथड़े में लिपटी लाश सड़क किनारे पड़ी थी। मक्खियां उनपर भिनक रही थी। आंखें उल्टी थीं। चिथड़े पर चक्के के निशान थे और, लोगों की भीड़ उसे अनदेखा कर तेजी से मछली बाजार व सिनेमाघरों की ओर भाग रही थी। समय ही ऐसा है, भला कोई साहस कैसे दिखा सकता है।'

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कहानी 'डायरी' तो आपातकाल के दिनों का दस्तावेज ही सामने रख देती है। वह भी डायरी के माध्यम से। घटना जब तक मन-मस्तिष्क तक रहे तो उसको भुलाया जा सकता है लेकिन जब वह दस्तावेज का शक्ल ले ले तो वह इतिहास के पन्नों में दर्ज हो जाती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी डायरी को मात्र नहीं रखना चाहता क्योंकि उसकी यादें आने वाले भविष्य को भी एक

इस कहानी संग्रह में 19 कहानियों को शामिल किया गया है। संकलन की एक-एक कहानी आपातकाल की व्यथा का जिस प्रकार से चित्रण करती है। उनको पढ़ते हुए लगता है मानो हम एक ऐसी अंधेरी खोह में से गुजर रहे है जिसमें संताप, टीस के साथ-साथ घनघोर चुप्पी साध लेने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता समझ में नहीं आता है। मानवीय जीवन में फैले क्लांत को ये कहानियां जितने बड़े प्लाट और कैनवास के साथ उठाती है उसकी वेदना उससे भी गहरी प्रतीत होती है।

भयावह यथार्थ की याद दिलाएगी। कहानी का एक संवाद है

'अफसोस है मिस्टर भुवनेश्वर, मैं आपको आपकी डायरी वापस नहीं कर सकता। भविष्य में भी आपके पास ऐसी कोई 'खतरनाक डायरी' मैं नहीं दे सकता' उसने एक-एक शब्द रुक-रुक कर बड़े दुख के साथ कहा था, ऐसा मैंने महसूस किया।

अंतिम वाक्य तो पूरे कहानी के भावार्थ को ही निचोड़कर रख देता है। जीवन का शायद सबसे कठिन क्षण वही होता है, जिसमें एक पिता अपने पुत्र को चिता देता है। कहानी की ध्वनि को इस इसके अंतिम वाक्य के माध्यम से महसूस किया जा सकता है : 'मैं बिना प्रतीक्षा किए तेजी से बरामदे में निकल आया था। बाहर अब भी बारिश हो रही थी। अंधेरा और भी घना हो चला था। अब मैं अपने घर लौट रहा था। उस पिता की तरह जो अपने पुत्र को दफना कर लौट रहा हो।'

आपातकाल तो सत्ता प्राप्त करने का एक साधन था। असली मकसद तो विपरीत परिस्थितियों में भी सरकार बनाना था। चाहे जनता के खिलाफत का उद्वेग कितना ही प्रबल हो। मृदुला सिन्हा की कहानी 'जब-जब होंहि धरम की हानी' मानों उस गीता के श्लोक की याद दिलाती है। जिसमे कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं :

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥'

मृदुला सिन्हा की इस कहानी की कुछ पंक्तियों के माध्यम से ही पूरे आपातकाल के पीछे उद्देश्य का पटाक्षेप हो जाता है। मसलन : 'किसी ने आकर सूचना दी 'हरिपद एक-दो दिनों में छूट जाएगा। मतगणना शुरू हो गई है। रिजल्ट ऐसे आ रहे हैं मानो नई सरकार ही बनेगी।'

इसके आगे की कुछ वाक्य तो आपातकाल के दौरान जबरन जेलों के अंदर ठूस दी गई विद्रोही जनता के प्रति सरकार के मनसब को बखूबी बयां करती है 'दूसरे दिन नई सरकार बन गई। हरिपद के बैरक के सामने खड़ा सिपाही आवाज दे रहा था- चलो, बाहर निकलो। सरकार ने तुम्हारी सजा माफ कर दी है।'

संग्रह की अन्य कहानियां भी मानवीय पीड़ा, संत्रास और जिस बर्बरता का बखान करती है उसका अंदाजा कहानियों के शीर्षक से ही लगाया जा सकता है। मसलन दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय' की कहानी 'छाती ठंडी हो गई', दीप्ति खंडेलवाल की कहानी 'एक और कब्र', महीप सिंह की कहानी 'निशाना', मृदुला सिन्हा की कहानी 'जब जब होंहिं धरम की हानी', शत्रुघ्न प्रसाद की कहानी 'अँधेरे से संघर्ष', हिमांशु जोशी की कहानी 'जलते हुए डैने' आदि ऐसी ही कहानियां है।

कुल मिलाकर संग्रह की कहानियों को जिस तरह से शब्दशः संपादित करने का प्रयास किया गया है। वह निस्संदेह एक साहसिक कार्य है और ऐसा कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जो सामाजिक बदलाव की जिजीविषा के जोश से भरपूर हो। प्रो. भगत एक ऐसे लेखक हैं जो पत्रकार पहले हैं, साहित्यकार बाद में इसीलिए वे किसी भी प्रकार के साहित्यिक जोखिम से न तो घबराते हैं और न ही अपने लेखन से किसी को आक्रांत करते हैं। सहजता इनके लेखन का मूलमंत्र है लेकिन सामाजिकता और मानवीयता के मूल्यों को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए। हमारी इस बात पर सहमति व्यक्त करते हुए वरिष्ठ पत्रकार और पूर्व सांसद तरुण विजय ने भी प्रो. भगत के कार्यों की सराहना करते हुए लिखा है, 'डॉ. भगत ने आपातकाल की तानाशाही व्यथा-कथा से युवा पीढ़ी को जिस प्रकार से अवगत कराया है यह सचमुच महत्वपूर्ण कार्य है। ऐसा चुनौतीपूर्ण और जोखिम भरा कार्य कोई जुझारू पत्रकार ही कर सकता है। उन्होंने इस बात की तनिक भी परवाह नहीं की कि इस विषय पर शोध कार्य करने का परिणाम क्या होगा।'

प्रो. भगत के लेखन और संपादन की यही खूबी है कि वे अपने समय के झंझावातों से आगे बढ़कर जोखिम लेते हैं इसलिए ऐसा कार्य कर पाने में सक्षम हैं। पुस्तक की कुछ कहानियों को छोड़ दें तो लगभग संग्रह की अधिकांश कहानियां अपने दौर की सच्चाई को बयां करने में समर्थ रही है। दूसरा छोटी-मोटी भूलों को यदि नजरअंदाज कर दिया जाए तो इस संग्रह में प्रकाशित लगभग सभी कहानियां अपने समय के इतिहास का दस्तावेज है।

जीवनी

एक पालतू के बोहेमियन किस्से के बहाने गुरु-गाथा

गीताश्री

कथाकार

संपर्क :
डी-1142, गौर ग्रीन एवेन्यू
अभयखंड-2, इंदिरापुरम
गाजियाबाद-201014
(उ.प्र.)
मो. 9818246059

यह किताब एक स्थापित लेखक और एक लेखक बनने की रासायनिक प्रक्रिया से गुजरने वाले लेखक की कहानी कहती है। किस तरह के घोल से बनते हैं लेखक और लेखन के लिए कितना धैर्य चाहिए, भाषा को बरतने का कौशल कैसा हो और कहानी कला क्या है, यह सब एक बड़े लेखक के प्रयोगशाला में तैयार होते, हम देखते हैं, महसूस करते हैं।

प्रभात रंजन हमारे समय के गुस्ताव जैनुक हैं जिनके पास मनोहर श्याम जोशी जैसे महान साहित्यकार के अंतर्मन तक पहुंचने की कुंजी है। 'पालतू बोहेमियन' किताब के बहाने मैं 'प्रभात - एक लेखक' पर भी बात करना चाहती हूं।

एक विलक्षण लेखक के विलक्षण शिष्य पर बात कर रही हूं। मैं उस लेखक पर बात कर रही हूं जिसको चेला और शिष्य का फर्क पता है। चेला दरबार लगाते रह जाते हैं, शिष्य प्रभात रंजन हो जाता है।

वो गुरु ही होगा न जो अपने शिष्य को कदम-कदम पर सूक्त वाक्य देता रहेगा जिससे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता चलता है।

जोशी जी ने जब कहा होगा - 'रचनात्मक साहित्य को पत्रकार की नजर से नहीं पढ़ना चाहिए' या जब कहा होगा - 'अच्छा लेखक बनना है तो बहुत पढ़ना चाहिए' या जब कहा होगा - 'तुम विद्रोह करना चाहते हो, लेकिन मुश्किल यह है कि समय पर नहीं कर पाते।'

गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा ...

गुरु यही तो होते हैं जो अपना बेस्ट अपने शिष्य में रोप कर अवशिष्ट ले जाते हैं। विलक्षण गुरु का विलक्षण शिष्य के बारे में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वे अपने युवा समय को लीड करते दिखाई पड़ते हैं। जब वे कोठागोई लिखते हैं तो जमाने के सामने एक चलन छोड़ देते हैं और 'पालतू बोहेमियन' तक आते-आते सबके हाथ में अपने समय का सबसे सुंदर मुहावरा पकड़ा देते हैं। दो कंट्रास्ट, अवधारणा पर वे ही बात कर सकते हैं। कोठा है तो उसके दिलचस्प किस्से हैं, उसका इतिहास है।

पालतू है तो उसकी खानाबदोशी है। खानाबदोशी 'चलत मुसाफिर' का मिजाज है, जिसके किस्से अनगिनत होंगे। यानी किस्सा हर हाल में। प्रभात किस्से सुनाने के माहिर लेखक हैं जो अपने समय को नया ट्रेंड देने के लिए याद रखे जाएंगे। किस्सों से महकता हुआ एक लेखक जब दूसरे लेखक के किस्से कहता है तो आनंद का चरम महसूस कर सकते हैं। किस्सागो खुद कई किस्सों के नायक होते हैं और जब वो खुद को 'पालतू बोहेमियन' बताए तो अपने बारे में जानने के सारे सूत्र और कुंजी थमा देता है, दूसरे के हाथ में! बहुत से लोग उन छायाओं से चिपटकर खत्म हो जाते हैं, फौलादी छायाओं से कोई-कोई ही मुक्त हो पाता है। प्रभात हुए और यह किताब आई।

बहुत से लेखक होते हैं, बहुत से लेखक के साथ कुछ दिन, कुछ महीने साल गुजारते हैं, अपने मतलब की राह पकड़ कर निकल लेते हैं। कोई टिकता है, सहेजता है, संजोता है, और धर देता है सामने जैसे गुस्ताव ने धर दिया था काफ्का का समूचा जीवन। बहुत समानता है दोनों में। प्रभात उतने ही करीब थे मनोहर श्याम जोशी के जितने गुस्ताव करीब थे काफ्का के।

रोज का उठना बैठना था। दोनों के जीवन में बहुत साम्य। सारा पवित्र, अपवित्र सब साझा। खूब बहसें और झड़पें!

काफ्का के साथ रहा करते थे युवा लेखक गुस्ताव! अपनी रचनाएं उन्हें पढ़वाया करते थे। काफ्का को अपने शिष्य से बहुत काम लेना था। वही उनके विचारों और दिनचर्याओं का दस्तावेजीकरण कर रहा था। उसके सामने कभी वे नकली न हो पाए जैसे जोशीजी, बिलकुल अपने असली मिजाज और रंग के साथ प्रभात के सामने आते हैं। काफ्का, अपने शिष्य की कविताओं पर बहुत तल्ख होते थे - 'तुम्हारी कविताओं में बहुत शोर है' कहकर उसे उकसाते हैं, जोशीजी, प्रभात की कहानियों पर तल्खी से बोलते हैं - 'देखो तुम्हारी कहानी पढ़कर मुझे साफ लगा कि अभी इस तरह की कहानियां लिखना तुम्हारे वश का नहीं है। न तो तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई वैसी है, न ही लेखक का वह धैर्य, जो एक एक कहानी लिखने में महीने-सालों का समय लगा दे सकता है।'

प्रभात ने किस्सागोई कहां सीखी? कहानी कला को कहां साधना सीखा? ये उन्हीं की हिम्मत थी कि पहली कहानी पर गुरु की तल्ख टिप्पणी के बाद फाड़कर डस्टबिन में फेंक दिया। प्रभात को पन्ने भरने वाला लेखक नहीं बनना था।

दरअसल यह किताब एक स्थापित लेखक और एक लेखक बनने की रासायनिक प्रक्रिया से गुजरने वाले लेखक की कहानी कहती है। किस तरह के घोल से बनते हैं लेखक और लेखन के लिए कितना धैर्य चाहिए, भाषा को बरतने का कौशल कैसा हो और कहानी कला क्या है, यह सब एक बड़े लेखक की प्रयोगशाला में तैयार होते हम देखते हैं, महसूस करते हैं। अधैर्य लेखक के लिए पाप की तरह होता है। यह एक ऐसी कमजोरी है जिससे संतुलन गायब हो जाता है और चढ़ाई से पहले ढलान शुरू हो जाती है।

प्रयोगशाला का प्रभाव प्रभात के लेखकीय जीवन पर कितना गहरा है, ये सब जानते हैं। कोई हड़बड़ी नहीं, डूबकर काम करना है, हर बार कुछ अलग करना है, सबसे अलग। यही बात उन्हें सबसे अलग करती है। यह किताब प्रभात के रंजन बनने की कथा

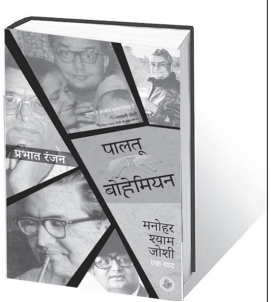

पुस्तक : पालतू बोहेमियन
लेखक : प्रभात रंजन
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2019
पृष्ठ : 144
मूल्य : ₹ 125

भी कहती है। यह दो बोहेमियन की एक कथा है।

बोहेमियन कथा बांचे तो रोमांच पूरा होता है। जीवन का, उसके यथार्थ का रोमांच ! जीवन यात्रा का रोमांच, कागज के जंगल से गुजरने का रोमांच और विचारों की टकराहट का रोमांच ! बोहेमियन, अपने से भिन्न दुनिया के प्रति आशंकित और डरा हुआ रहता है। जोशीजी ने कहा था - 'जानते हो, इस दुनिया में सबसे अधिक हत्याएं मार्क्सवाद के नाम पर की गई हैं बल्कि यह कहना चाहिए कि इस संसार में सबसे ज्यादा इनसान विचार और धर्म के नाम पर मारे गए हैं। यह दुनिया और कुछ नहीं है- बस 'किलिंग फील्ड' है। (पृ. 109)

हम मौजूदा समय में इसे सच होते देख रहे हैं कि कैसे दुनिया एक वधस्थल में बदलती जा रही है। यह वध कई तरह का है - बिना खून बहाए भी, बिना शारीरिक हिंसा के भी हत्याएं हो रही हैं। समाज में वधिकों की जमात बढ़ती जा रही है।

जोशीजी के बारे में बहुत कुछ प्रभात लिख चुके हैं। जितना एक शिष्य को लिखना चाहिए। उनके व्यक्तित्व के और भी पहलू होंगे। बस एक प्रसंग (पृ. 60) मेरे दौर का है तो सोचा इस जानकारी में इजाफा करती चलूं। ये सच है कि जोशीजी अपने लिखे को लेकर बहुत आग्रही थे। उन दिनों में आउटलुक, हिंदी में कॉलम लिखा करते थे। मैं वहां डेस्क पर थी। हम लोग सारे पेज एडिट करते और बनवाते थे, सिवाय जोशीजी के। उनके गुस्से और आपत्तियों के बारे में हमें बता दिया गया था। सब डरने लगे थे। सबसे हिम्मतवर सहायक संपादक गोविंद सिंहजी। जोशीजी की कॉपी में कोई पेन नहीं लगाता था। संपादक भी नहीं। गोविंदजी ने अपने संपादकीय विवेक और पत्रिका की वर्तनी के अनुसार थोड़ा चेंज किया और मैटर बड़ा हो रहा था तो एडिट भी किया। फिर क्या था ! पत्रिका छपकर आई तो विस्फोट हो गया। जोशीजी का संपादक के नाम लंबा खत ! गोविंदजी ने फिर पत्र का जवाब दिया, माफी मांगते हुए तब जाकर कोप खत्म हुआ।

इस घटना के कुछ दिन बाद हमारे दफ्तर आए। मुझे बुलावा आया, संपादकजी के केबिन से। अंदर गई तो जोशीजी संपादकजी की कुर्सी पर बैठे और संपादकजी सामने बेंच पर। मैं हड़बड़ा गई, नजारा देखकर। लगा, संपादक बदल गए क्या ? मुझे क्यों बुलाया ? दोनों लोग किसी बात पर ठहाके लगा रहे थे। मुझे देखते ही जोशीजी ने एक कार्ड थमाया-'देखो, तुम्हें इस प्रोग्राम में आना है, कवर भी करना है, मैंने अपने कर कमलों से तुम्हारा नाम लिखा है...'

मैंने कार्ड पर नाम देखा-सुंदर हस्तलिपि। नाम में गीता और श्री अलग अलग।

मैंने पूछा-आप खुद ही करेक्ट करेंगे या मैं दुस्साहस करूं ? मेरा नाम ऐसे नहीं... ! शिकायती पत्र तो न लिख देंगे...

मेरी जुबान फिसलती बहुत है। फिसल गई।

जोशीजी ने जोरदार ठहाका लगाया ...

बहुत से लेखक होते हैं, बहुत से लेखक के साथ कुछ दिन, कुछ महीने साल गुजारते हैं, अपने मतलब की राह पकड़ कर निकल लेते हैं। कोई टिकता है, सहेजता है, संजोता है, और धर देता है सामने जैसे गुस्ताव ने धर दिया था काफ्का का समूचा जीवन। बहुत समानता है दोनों में। प्रभात उतने ही करीब थे मनोहर श्याम जोशी के जितने गुस्ताव करीब थे काफ्का के।

बाद में हमने तय किया कि जोशीजी का पेज खुद वो ही फाइनल करें। उनको छपने से पहले भेजा जाता, वो संतुष्ट होते तो छपने जाता पेज ! कौन हाथ लगाए डर के मारे।

प्रभात ने इस प्रसंग को किताब में लिखा है। मैंने विस्तार से बताया। जोशीजी के साथ मेरे अनेक संस्मरण हैं।

आउटलुक से पहले यानी पत्रकारिता के शुरुआती दौर में उनके घर में खूब आना जाना होता था। 'कसप' उन्होंने ये कहकर दी कि लौटा देना, एक ही प्रति बची है। मैं नहीं लौटा पाई। मैं लौटाना नहीं चाहती थी। स्मृति बचा ली पास में। जब भी आईआईसी में मिलते - दुर्गा देवी, कहते और याद दिलाते तुम किताब कब वापस करोगी ?

मैं कहती - कभी नहीं।

वो किताब नहीं मांगते थे, स्नेह का सिलसिला बनाए रखने का उपक्रम था ये।

बहरहाल ये अवांतर प्रसंग आ गया। मैं कहां थी ? स्मृतियों की खोह में ? कहीं तो थी जहां सब कुछ सपनीला सा था। मुझ नादान को तब क्या पता था कि किस शख्सियत से मिलती हूं अकसर !

ये किताब पढ़कर समझ में आ रहा है, किताबें बहुत सी पढ़ी होगी तुमने... कभी कोई चेहरा भी तुमने पढ़ा है ? प्रभात चेहरे पढ़ने वाले नजूमी हैं, सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता या आत्मलोक का बाशिंदा ! ये सब कुछ करिश्मा है। गेटे ने कहा है न कि जीवन और प्रेम उन्हीं के लिए है, जिन्हें इसको रोज जीतना पड़ता है। जीवन के चारों तरफ अंधेरा है, दो चेहरे जीवन के मंच पर रोशन हैं। दोनों जीत रहे हैं लगातार ! एक दूसरे के प्रति गहरा प्रेम इनके जीवन के मूल में है। यह प्रेम भावुक नहीं बनाता, प्रेम कवच का काम करता है, सच के अनेक विश्वसनीय दृश्यों से भरा हुआ।

तभी जोशीजी की मृत्यु के बाद प्रभात को टीवी चैनल पर बुलाकर सवाल पूछा जाता है, एक योग्य शिष्य को जैसा जवाब देना चाहिए, वैसा जवाब देते हैं - यह कितना चकित कर देने वाला जवाब था ! प्रभात बताते हैं - 'उन्हें जोशी जी का एक किरदार हवेलीराम बहुत पसंद आया है, क्योंकि वह कलम से इंकलाब लाना चाहता था।'

इंकलाब ही तो होती हैं इस तरह की किताबें। ये किताब प्रभात की कलम से निकला इंकलाब ही है। इस किताब की सबसे अच्छी बात जो लगी वो ये कि अपने गुरु पर लिखते समय प्रभात खुद को बचा ले जाते हैं महिमा मंडन करने से। उनकी खूबियों का जिक्र है तो हौले से उनकी कमियों का खुलासा भी कर देते हैं। पाठक अनुमान लगा लेते हैं कि लेखक का संकेत किधर है ? प्रभात ने न अपनी कमियां छिपाई हैं न जोशीजी की जब वे सवाल उठाते हैं कि जोशीजी का कविता के प्रति रवैया कैसा था। आलोचना कर्म को, रचनात्मक नहीं मानते थे। हर किताब के पीछे वे अंग्रेजी का प्रभाव ढूंढा करते थे। क्या उन्हें हिंदी की मौलिकता पर भरोसा नहीं था ? जोशीजी हिंदी का भविष्य भी उसी वक्त देख रहे थे। एक लेखक भविष्यद्रष्टा भी होता है। जोशीजी ने दैनिक हिंदुस्तान में छपने वाले अपने साप्ताहिक कॉलम में लिखा था कि आनेवाले समय में तकनीक हिंदी को विचार की जकड़ से आजाद कर देगी। इस कॉलम का जिक्र करते हुए प्रभात लिखते हैं - 'अब हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वे उस दुनिया को कितना पहले समझ गए थे। हिंदी के किसी और लेखक ने इस तरह तकनीक पर लिखा हो, मुझे याद नहीं पड़ता।' (पृ. 75)

एक व्यक्तित्व कितने तरह के रसायन और अवयवों से बनता है, यहां देख, चीन्ह सकते हैं। इस किताब के बाद प्रभात अपने दायित्व बोध से मुक्त हुए हैं। जोशीजी की बात मानते हुए उन्हें 'दो मिनट का मौन' किताब लिख लेना चाहिए। अपने साहित्यिक गुरु, नवगीतकार रामचंद्र भूषण पर केंद्रित किताब, जोशीजी ने कहा भी था कि यह उपन्यास अपने ढंग का अकेला उपन्यास होगा जिसमें पुराने लेखकों वाली करुणा भी होगी और समकालीन व्यंग्य बोध भी। एकदम उत्तर आधुनिक पैरोडी की तरह। सबसे बढ़कर इस उपन्यास में अंतर्निहित दार्शनिकता होगी कि इस दुनिया में सब कुछ फानी है। किसी बात का कोई मतलब नहीं है।

निबंध

जीवन के रंगों का कोलाज

यशस्विनी पांडेय

कवयित्री

संपर्क :
221/4, एयरफोर्स स्टेशन, दार्जिपुरा, वडोदरा-390022 (गुजरात)
मो. 8306396839

'कुछ अल्प विराम' पुस्तक एक संपूर्ण जीवन को हमारे सामने रखती है। यह जीवन की तरह ही रोचक, चुटीली, कड़वी, द्वंद्वों, संघर्षों, संवेदना और मानवीयता के अलग-अलग रंगों और स्वादों से भरपूर है। इन रंगों और स्वाद का मजा लेने के लिए किताब पढ़ने के अलावा कोई और विकल्प नहीं।

हम में से हर एक व्यक्ति अपने जीवन को कई स्तरों पर एक साथ जीता है। एक बाहरी जीवन है जिसमें समाज, संस्था, कार्यालय, देश-विदेश आदि शामिल हैं, जो औपचारिक रूप से चलते रहता है लेकिन साथ ही एक ऐसा आंतरिक जीवन भी साथ-साथ चलता है; जो मन, हृदय, संवेग, वैचारिक-मनोवैज्ञानिक मंथन व मानवीयता के स्तर पर अनवरत चलता है। जिसे जीते तो सभी हैं पर कोई ठहरकर दर्ज नहीं करता न शब्दों में, न विचारों में, न जीवन की स्मृतियों में। जीवन की आपाधापी और भागदौड़ में वह कहीं अंकित नही होता। ऐसे क्षण जो तमाम व्यस्तताओं और जिम्मेदारियों के बीच जब-तब, घड़ी-घड़ी हमारे जेहन में भावना, संवेग व विचारों के स्तर पर जिया जाता है उन्हीं क्षणों को थोड़ी देर ठहर कर सोचने और मंथन करती हुई सच्चिदानंद जोशी की पुस्तक 'पल भर की पहचान' भी है। ऐसे ही जीवन के कुछ किस्सों और उन किस्सों के कुछ हिस्सों की शिनाख्त जोशी ने अपनी रोचक किताब 'कुछ अल्प विराम' में भी किया था। इस पुस्तक को इतना सराहा और पसंद किया गया कि कुछ ने कहा 'इसे महाविद्यालय के पाठ्यक्रम में जोड़ देना चाहिए', कुछ ने कहा 'इस पुस्तक के माध्यम से गल्प कहने की एक नई विधा ही जन्म ले रही है।' इस विधा को आगे बढाती और झकझोरती 'पल भर की पहचान' फिर से थोड़ा ठहरकर जीवन के बेहद जरूरी सबक ऐसी सरल, सहज भाषा व शैली में सिखाती है कि ये 'पल भर की पहचान' से जिंदगी की पहचान कब बन जाती है, पता ही नहीं चलता। दोनों किताब के हर किस्से अलग से एक पाठ व समीक्षा की मांग करते हैं पर अपनी शब्द-सीमाओं में आबद्ध हम इन्हें कुछ शब्दों में समेटने का प्रयास करते हैं।

'कुछ अल्प विराम' में ये ऐसे लेखक के रूप में भी हमारे सामने आते हैं, जिनके हृदय में अपनों के लिए ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के लिए, प्रकृति के लिए, समाज के लिए और संपूर्ण मानवता के लिए प्रेम, स्नेह व संवेदनाएं हिलोरें ले रही। इन संवेदनाओं व मानसिक पीड़ा का पूरा दस्तावेज 'लेडी श्रवण कुमार', 'बालश्रम', 'मेहंदी में छिपा दर्द' में उभरकर आता है। यहां न ज्ञान का असंयमित प्रदर्शन है और न ही भावुकता का कोरा दिग्भ्रम। सबको खुशहाल देखने की आकांक्षा से प्रेरित लेखक का मन बार-बार तड़पता है और विचलित भी होता है। लेखक यात्रा के मामले में उत्साही व्यक्ति हैं। किसी स्थान को देखना सिर्फ देखना नहीं होता बल्कि वह इतिहास-साहित्य, कला-संस्कृति-सभ्यता के अतीत का पूरा और पुनर्नवा स्मृतियों का दस्तावेज होता है और आध्यात्मिक आनंद का स्त्रोत भी। इस बात को वो बखूबी समझते हैं। उनके शब्दों में 'अपना बाज बहादुर' में-हम उस यात्रा के एक-एक क्षण को जी लेना चाहते थे, हमने खोज-खोज कर सब स्थान देख डाले। आस्था और विश्वास से लबरेज लेखक 'मैन प्रपोजेस' में लिखते हैं 'ओरोविल का मातृ मंदिर एक ऐसा अनुभव है, जो स्वयं लेना पड़ता है। उसके बारे में कुछ भी लिख पाना मेरे शब्द सामर्थ्य के बाहर है'। ये किस्से मूलतः आत्म विह्वलता के ही नहीं बल्कि आत्म साक्षात्कार और आत्म प्रश्नाकुलता, आत्म-आनंद के भी भाव हैं।

सियासी फायदों के लिए सांप्रदायिक सौहार्द्र बिगाड़ने वाले लोग समाज में असंतुलन पैदा करते हैं पर कुछ लोगों जिनको सिर्फ पेट पालने से मतलब है, उनको कोई फर्क नहीं पड़ता। 'सहिष्णुता' में इसी सत्य को रेखांकित किया गया है; इसके साथ ही मनुष्य के जीवनगत संघर्षों और उनकी बुनियादी जरूरतें मात्र 'रोटी कपड़ा मकान' को बताते हुए अभिव्यक्ति दी है। धार्मिक आधार पर बंटवारे की राजनीति करती व्यवस्था पर प्रहार करते मानवता की बात करते हैं तो दूसरी तरफ 'भ्रूण हत्या' हमारे समय की मुश्किलों, विडंबनाओं और विद्रूपताओं से परिचय करवाती है और उनकी जड़ों तक जाकर देखने और दिखाने का जोखिम भरा काम भी करती हैं। 'बालश्रम' में जब लेखक अपने घर काम करने वाली रमा के लिए कुछ नहीं कर पाता; जब उसका शराबी पिता उसे प्रताड़ित करता है और इसके लिए वो खुद को भी कठघरे में खड़ा करता है। ये किस्सा हमारे अंदर केवल एक गहरी बेचैनी ही पैदा नहीं करता बल्कि जिंदगी के कड़वे यथार्थ से रूबरू भी करवाता है। लेखक जितना ही अपने विषयवस्तु में डूबा संपृक्त है उतना ही वह अपने अंदर के विचार और दृष्टिकोण के प्रति सजग भी है। प्रसंगों को महसूस करने पर इनमें उतनी आबद्धता, संबद्धता और प्रतिबद्धता की अनूगूंज है, जितनी नागार्जुन की पंक्ति 'जी हां मैं प्रतिबद्ध हूं' में।

एक संघर्षशील रचनाकार की यह खासियत हमेशा बची रहनी चाहिए कि जिंदगी से जूझते हुए जिंदगी के सफर को खुद तय करे और अपनी रचना के जरिए व्यक्ति और समाज को जीना सिखाए। इस बात को 'हवाई यात्रा' के माध्यम से समझाते हैं जब अपनी विंडो वाली सीट को एक बच्चे को दे देते हैं जिसे अपने परिवार से अलग सीट मिली थी। सिर्फ इतना ही नहीं लेखक उनके हाव-भाव और खुशी को पूरा महसूस करता है और जीता है। दूसरों की खुशी में आनंद अनुभव कर पाना

पुस्तक : कुछ अल्प विराम
लेखक : सच्चिदानंद जोशी
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2018
पृष्ठ : 144
मूल्य : ₹ 250

इस युग में विलुप्त भाव है। बावजूद इसके कि उस परिवार ने लेखक के इस औदार्य के लिए धन्यवाद देना या कृतज्ञता ज्ञापन करना उचित नहीं समझा। लेखक की यह दृष्टि निरंतर खुली हुई खिड़की से दुनिया को देखने और अपनी समझ के कारण है जिसमें आत्मीय आंच भरपूर है।

अपनी भाषा से सबको प्यार होता है और सभी अपनी भाषा में ही खुद को अच्छे से अभिव्यक्त कर पाते हैं या समाज में गौरव पाते हैं लेकिन भाषा के लिए प्रतिबद्धता या उसे समृद्ध करने का प्रयास विरले ही करते हैं वो भी दूसरे देश में जाकर। 'विदेश में हिंदी के अनुभव' यह प्रतिबद्धता का वह चेहरा, जो चमत्कृत भी करता है और भौंचक भी; जब 'कोपेनहेगेन' के चर्च में हिंदी में छपे सूचना-पत्रक में हिंदी की वर्तनी-त्रुटियों को लेखक खुद मांग कर ठीक करके भेजता है। लेखक का मूल कर्तव्य यही है कि वह अपने समय को अपने दैनंदिन जीवन में दर्ज करे और हमें अपनी नागरिकता याद दिलाए न सिर्फ अभिव्यक्ति के स्तर पर बल्कि व्यावहारिक रूप में भी। 'धर्म-निरपेक्षता' में इस तथ्य को समझाने की कोशिश की गई है कि धर्म को बाजार व राजनीति निगलता जा रहा है और संस्कृति पर उपभोक्तावाद चढ़ता जा रहा है। इन प्रसंग में असुरक्षा से जन्मी आस्था है, गरीबी है, असफलता का भय है। सुविधा और प्रगति की भेंट चढ़ते मूल्य लेखक की चिंता के केंद्र में तो है ही वे उस व्यवस्था पर सोचने को मजबूर करते हैं जो धर्मों में बांटकर आदमी को देखती है और मानवता पर प्रश्न भी करती है। यह प्रसंग हमारे समय की भयावहता और समाज में बढ़ती हिंदू और मुस्लिम कट्टरता को सच्चाई के साथ बिना विवादास्पद या कटाक्ष के बयां करती है।

'पल भर की पहचान' में भी सच्चिदानंद जोशी में अपने समय में तेजी से हो रहे बदलावों पर मार्मिक-धार्मिक, ऐतिहासिक-भौगोलिक, पारिवारिक-सांस्कृतिक दृष्टि है। अपने समय को वे पहचानते हैं, पकड़ते हैं और उसे दर्ज करने में सफल भी होते हैं। 'नया साल और सांता क्लाज' प्रसंग के द्वारा ट्रैफिक सिग्नल पर सामान बेचते गरीब बच्चों की जिंदगी, संघर्ष व उनकी छोटी-छोटी खुशियों पर प्रकाश डाला गया है, वहीं 'जमाना बदल गया है' में मौजूदा समय की पहचान बन गए बदलावों पर चिंता भी जताई है। 'पशु बनता मनुष्य और पंगु बनता समाज' में आजकल के विचलित कर देने वाले हिंसात्मक घटनाओं के बारे में कहते हैं-यह कैसे समाज की ओर बढ़ते जा रहे हैं, जहां मनुष्य दिन-पर-दिन पशु होता जा रहा है और समाज दिन-पर-दिन पंगु होता जा रहा है। 'मैं भी होता तो' में वे खुद पर भी व्यंग्य व सवाल करते हुए स्वयं को भी मानवीयता के कठघरे में खड़ा करते हैं। ये उनकी तटस्थता, खुद से प्रश्न-मंथन, खुद को झकझोरना और कठघरे में खड़े करना उन्हें समकालीन रचनाकारों से एकदम

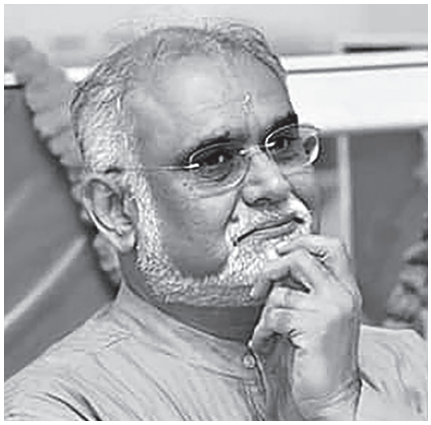

सच्चिदानंद जोशी के हृदय में अपनों के लिए ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र के लिए, प्रकृति के लिए, समाज के लिए और संपूर्ण मानवता के लिए प्रेम, स्नेह व संवेदनाएं हिलोरें ले रही।

अलग और कहीं आगे प्रतिस्थापित करती है।

किसी व्यक्ति के बारे में बताते हुए या उससे मिलते हुए सिर्फ सकारात्मकता का बोध होना और उसे ईमानदारी से लिखना ये पुस्तक के कई प्रसंगों में दिखता है; चाहे अटल बिहारी वाजपेयी से मुलाकात का प्रसंग हो, या नामवर जी के साथ मुलाकात का संस्मरण हो या फ्लाइट में साथ सफर कर रही किसी अनजान महिला का मिलना हो। इन सारे प्रसंगों में हर व्यक्ति से उत्साह, सकारात्मकता व प्रेरणा पाते-समेटते हुए ही 'पल भर की पहचान' बनी है। इस बात को उन्होंने 'जिंदगी मेरे घर आना' में लिखा भी है कि 'किसी को जानने के लिए वर्षों नहीं लगाने पड़ते, सिर्फ दिल के तार जोड़ने पड़ते हैं और हमारे पास तो जिंदगी खुद-ब-खुद चलकर आई थी तो उसे पहचानने का या न पहचानने का तो सवाल ही नहीं था।'

भारत में सदियों से हर स्तर पर हिंदू-मुसलमान साथ रहते आए हैं और जिस तरह से सम्मिलित संस्कृति का विकास हुआ है, उसे समूचे विश्व के लिए मिसाल के तौर पर देखा जाता है। इस सत्य को 'असुरक्षा भय या ध्यानाकर्षण की कवायद' में दो-तीन प्रसंगों के साथ बताने के साथ वे कहते हैं 'भय क्या सचमुच असुरक्षा का है या कहीं यादों की गर्त में खो जाने का, जो चर्चा में बने रहने के लिए ऐसे अकारण भय का मायाजाल रचने पर मजबूर कर रहा है।' पुस्तक के हर किस्से, संस्मरण पढ़े जाने के बाद कुछ देर ठहर जाने के लिए और उनके साथ अपनी पहचान ही नहीं वैचारिक संबंध बनाने को विवश करते हैं।

भारत में जितने महापुरुष आज की तारीख में प्रासंगिक हैं या याद किए जाते हैं- उनमें महात्मा गांधी व स्वामी विवेकानंद का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये दोनों व्यक्ति विनोदप्रिय भी थे और ज्यादातर खुद को ही माध्यम बनाकर लोगों को हँसाते थे और खुद हंसते थे। लेखक के अंदर इसी तरह की विनोदप्रियता कूट-कूट के पाई जाती है, 'पीला साबुन काला मंजन' की एक बानगी देखिए 'पिछली बार जब सैलून गया तो सैलून वाले ने पूछा था, सर बाल डाई कर दूँ? क्या कहता मैं? बस इतना ही कह पाया, 'एक दो साल और रुक जाते हैं जो बचेंगे उन्हें डाई कर लेंगे।' जिस पद व प्रतिष्ठा को सच्चिदानंद जोशी सुशोभित कर रहे हैं, उनकी जगह कोई और इस पद पर होता तो इतनी सरलता व सहजता से अपने को यथासंभव खोल कर नहीं रख पाता। किंतु लेखक के व्यक्तित्व में प्राकृतिक सहजता, विनम्रता और सरलता कदम-कदम पर झलकती है। इन प्रसंगों से हमारे आसपास आत्मीयता व विनोदप्रियता का विरल संसार रच जाता है।

हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था में प्रारंभ से लेकर अंत तक कहीं भी हमें समग्रता में जीवन जीने की कोई कला नहीं सिखाई जाती। कभी कोई नहीं बताता कि जीवन की प्राथमिकताएं क्या होनी चाहिए। शिक्षा के इस दुर्दशा और दिशाहीन स्थिति पर क्षोभ प्रकट करते हुए 'संपूर्ण जीवन कैसा हो?' में लिखा है 'समाज ने पैकेज ओरिएंटेड सोसाइटी बना दी, इसीलिए उस जीवन-पद्धति को सिखाने का कोई मार्ग हमारी मौजूदा शिक्षा पद्धति में आज बचा ही नहीं है।' आगे उन्होंने लिखा है 'एडवर्ड डिबोनो एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक व शिक्षाशास्त्री हुए हैं उनकी बात से एक संदर्भ लेते हुए समग्र और संपूर्ण जीवन-शैली के लिए 7-एस का सिद्धांत बता रहा हूं। ये 7-एस हैं-संकल्प, संयम, संतोष, सहिष्णुता, सहजीवन, सदाचार और सौजन्य। ये सात चीजें अगर हमारे जीवन में हों, तो हम संभवतः एक समग्र और संपूर्ण जीवन-शैली की ओर अग्रसर होंगे।' इस किताब के नोट्सनुमा लेखों को लेखक की डायरी भी कहा जाए तो संभवतः कुछ गलत नहीं होगा। इस किताब का अगर विज्ञापन करना हो तो यही कहा जाएगा कि गारंटी के साथ किताब खरीदें और पूरा पढ़ें अगर मजा न आया तो पैसे पूरे वापस। यह पुस्तक बहुत सारे रंगों और भूमिकाओं से भरा पल भर की पहचान कराते हुए एक संपूर्ण जीवन को हमारे सामने रखती है। यह जीवन की तरह ही रोचक, चुटीली, कड़वी, द्वंद्वों, संघर्षों, संवेदना और मानवीयता के अलग-अलग रंगों और स्वादों से भरपूर है। इन रंगों और स्वाद का मजा लेने के लिए किताब पढ़ने के अलावा कोई और विकल्प नहीं।

ज्ञान शांति मैत्री

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

सदस्यता आवेदन पत्र

'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 400 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 370 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगें। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

बैंक ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा' के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. 07152-232943

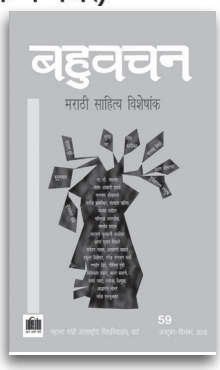

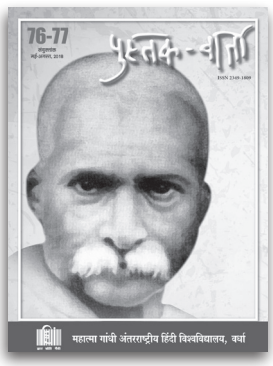

Bank Details for Online Payment :
Name: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name: **Bank of India, Wardha** Account No.: **972110210000005**
IFSC Code No.: **BKID0009721** MICR Code No.: **442013003**

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता पत्रिका के अंक ..... से ..... के लिए

रुपये ..... का बैंक ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक .....

संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भेजे :-

नाम : .....

पता : .....

दूरभाष : ..... ई-मेल : .....

दिनांक : ..... (सदस्य के हस्ताक्षर)

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

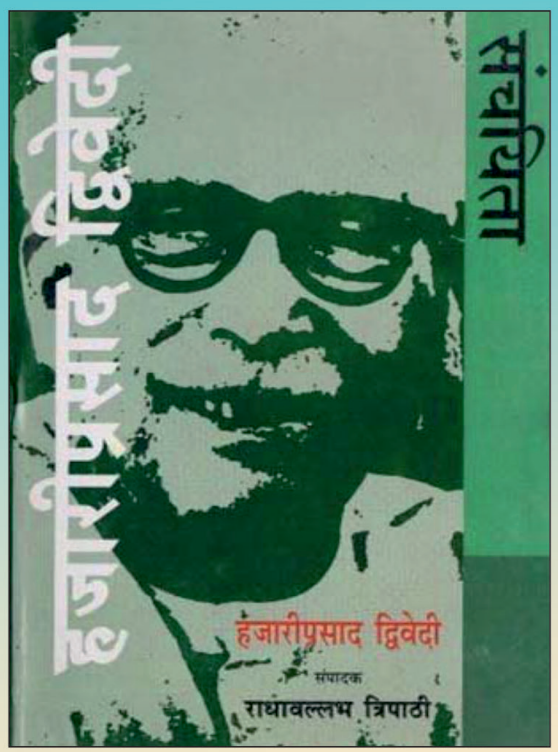

मूल्य : 400

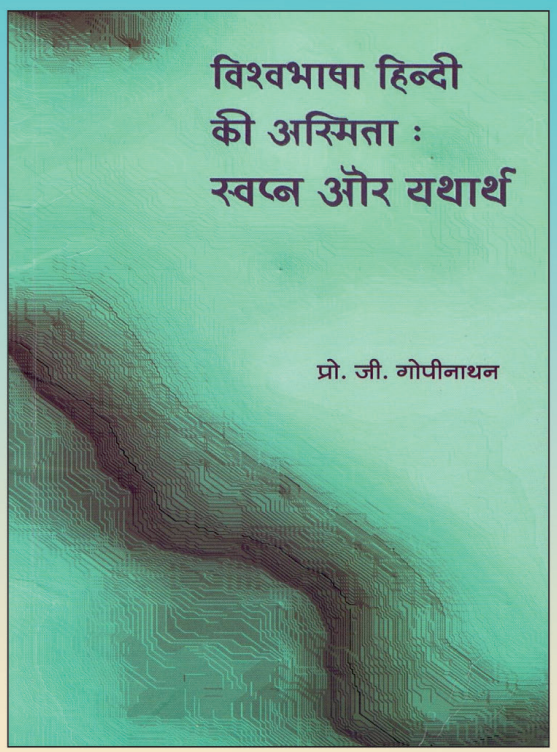

मूल्य : 60

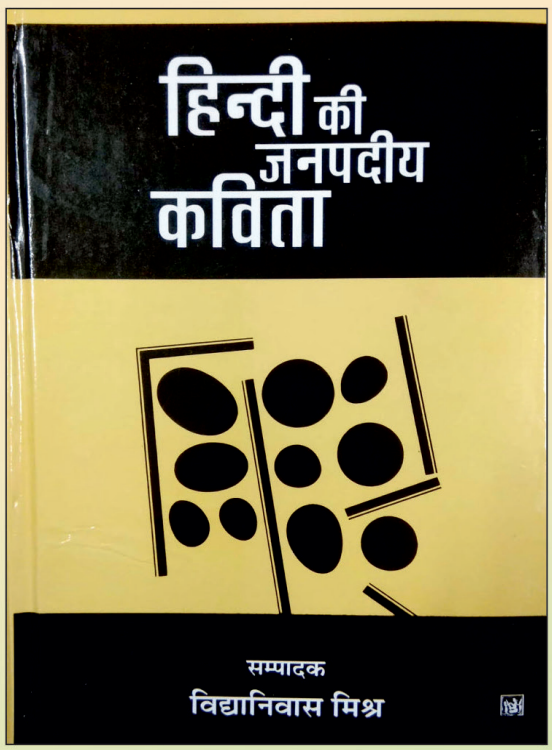

मूल्य : 1750

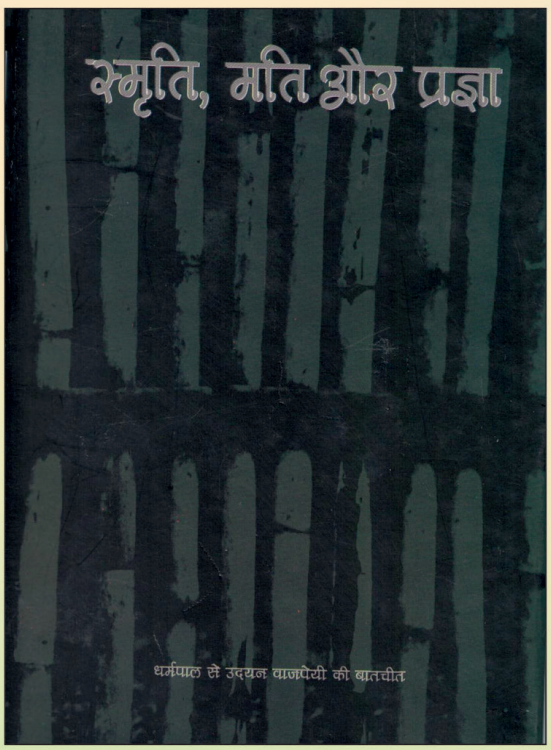

मूल्य : 125

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा –442 001 (महाराष्ट्र)

ISSN 2349-1809

उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य, नाटक, निबंध, आलोचना, विमर्श, बाल साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, सिनेमा, विविध, खोज कोश, समय-संचयन, आडियो/विडियो, अनुवाद, हमारे रचनाकार, हिंदी लेखक, संपर्क, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, ब्लॉग समय

ज्ञान शांति मैत्री

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ :

विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रकाशन

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
गांधी हिल्स, पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत
फ़ोन : (07152) 232943, फ़ेक्स : (07152) 230903
वेबसाइट : www.hindivishwa.org